

## Chapter पाँच

### नारद द्वारा व्यासदेव को श्रीमद्भागवत के विषय में आदेश

सूत उवाच

अथ तं सुखमासीन उपासीनं बृहच्छ्रवाः ।

देवर्षिः प्राह विप्रर्षिं वीणापाणिः स्मयन्निव ॥ १ ॥

#### शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूतजी ने कहा; अथ—अतएव; तम्—उसको; सुखम् आसीनः—सुखपूर्वक बैठे हुए; उपासीनम्—पास बैठे हुए को; बृहत्-श्रवाः—अत्यन्त सम्मानित; देवर्षिः—देवताओं के परम ऋषि ने; प्राह—कहा; विप्रर्षिम्—ब्राह्मणों के ऋषि ( ब्रह्मर्षि ) से; वीणा-पाणिः—हाथ में वीणा लिए; स्मयन् इव—मानो हँसते हुए।

सूत गोस्वामी ने कहा : इस तरह देवर्षि ( नारद ) सुखपूर्वक बैठ गये और मानो मुस्कराते हुए ब्रह्मर्षि ( व्यासदेव ) को सम्बोधित किया।

तात्पर्य : नारद मुस्करा रहे थे, क्योंकि वे महर्षि वेदव्यास को तथा उनके असन्तोष के कारण को भलीभाँति जानते थे। जैसाकि व्यासदेव आगे बतायेंगे, उनका असन्तोष भक्तियोग को सही ढंग से प्रस्तुत न करने के कारण उत्पन्न था। नारद को यह त्रुटि ज्ञात थी और व्यास की दशा से इसकी पुष्टि हो गई।

नारद उवाच

पाराशर्य महाभाग भवतः कच्चिदात्मना ।

परितुष्यति शारीर आत्मा मानस एव वा ॥ २ ॥

#### शब्दार्थ

नारदः उवाच—नारद ने कहा; पाराशर्य—हे पराशर-पुत्र; महा-भाग—परम भाग्यशाली; भवतः—आपका; कच्चित्—यदि यह है; आत्मना—आत्म-साक्षात्कार से; परितुष्यति—तुष्टि होती है; शारीरः—शरीर की पहचान; आत्मा—स्व; मानसः—मन की पहचान; एव—निश्चय ही; वा—तथा।

व्यासदेव को पराशर पुत्र, सम्बोधित करते हुए नारद ने पूछा : क्या तुम मन या शरीर को आत्म-साक्षात्कार का लक्ष्य मान कर सन्तुष्ट हो ?

तात्पर्य : नारद द्वारा व्यासदेव को उनके असंतोष के कारण का यह संकेत था। व्यासदेव को, अत्यन्त शक्तिसम्पन्न ऋषि, पराशर के वंशज होने के कारण, असामान्य पैतृक विशेषाधिकार प्राप्त था, जिससे उनके असंतुष्ट रहने का कोई कारण नहीं होना चाहिए था। महान पिता के महान पुत्र होने के कारण उन्हें चाहिए था कि आत्मा की पहचान शरीर या मन से न करते। अल्प बुद्धि वाले सामान्य जन शरीर को या मन को आत्मा के रूप में स्वीकार कर सकते हैं, लेकिन व्यासदेव को ऐसा नहीं करना चाहिए था। स्वभावतः कोई तब तक प्रसन्न नहीं रह सकता, जब तक सचमुच वह आत्म-साक्षात्कार को प्राप्त न हो, जो भौतिक शरीर तथा मन से परे है।

जिज्ञासितं सुसम्पन्नमपि ते महदद्भुतम् ।

कृतवान् भारतं यस्त्वं सर्वार्थपरिबृंहितम् ॥ ३ ॥

**शब्दार्थ**

जिज्ञासितम्—पूर्ण रूप से पूछा गया; सुसम्पन्नम्—पटु, दक्ष; अपि—होने पर भी; ते—तुम्हारा; महत्-अद्भुतम्—महान तथा अद्भुत; कृतवान्—तैयार किया; भारतम्—महाभारत; यः त्वम्—जो तुमने किया है; सर्व-अर्थ—सम्पूर्ण फलों सहित; परिबृंहितम्—विस्तार से व्याख्या की गई।

तुम्हारी जिज्ञासाएँ पूर्ण हैं और तुम्हारा अध्ययन भी भलीभाँति पूरा हो चुका है। इसमें संदेह नहीं कि तुमने एक महान् एवं अद्भुत ग्रंथ महाभारत तैयार किया है, जो सभी प्रकार के वैदिक फलों ( पुरुषार्थों ) की विशद व्याख्या से युक्त है।

तात्पर्य : व्यासदेव के विषाद का कारण उनमें पर्याप्त ज्ञान का अभाव नहीं था, क्योंकि छात्र के रूप में उन्होंने वैदिक साहित्य का पूर्ण अवगाहन किया था, जिसके फलस्वरूप उन्होंने महाभारत का संकलन किया जो वेदों की पूर्ण व्याख्या से समन्वित है।

जिज्ञासितमधीतं च ब्रह्म यत्तत्सनातनम् ।

तथापि शोचस्यात्मानमकृतार्थ इव प्रभो ॥ ४ ॥

## शब्दार्थ

जिज्ञासितम्—पूर्ण रूप से विचारा हुआ; अधीतम्—प्राप्त ज्ञान; च—तथा; ब्रह्म—परम, ब्रह्म; यत्—जो; तत्—उस; सनातनम्—शाश्वत को; तथापि—फिर भी; शोचसि—पश्चात्ताप करते हो; आत्मानम्—अपने आपको; अकृत-अर्थः—व्यर्थ; इव—सदृश; प्रभो—हे महाशय ।

तुमने निराकार ब्रह्म विषयक एवं उससे प्राप्त होने वाले ज्ञान को भलीभाँति लिपिबद्ध किया है। तो इतना सब होते हुए, हे मेरे प्रभु, अपने को व्यर्थ समझ कर हताश होने की क्या बात है ?

तात्पर्य : वेदान्त-सूत्र या ब्रह्म-सूत्र का संकलन श्री व्यासदेव ने किया है और उसमें निर्गुण ब्रह्म की पूर्ण चर्चा की गई है और यह विश्व की सर्वाधिक सम्मानित दार्शनिक व्याख्या मानी जाती है। इसमें विषय को समेटा गया है और इसकी प्रतिपादन-शैली पाण्डित्यपूर्ण है। अतएव व्यासदेव के दिव्य पाण्डित्य के विषय में सन्देह करने का प्रश्न ही नहीं उठता। तो फिर उन्हें इस प्रकार शोक क्यों करना चाहिए ?

व्यास उवाच

अस्त्येव मे सर्वमिदं त्वयोक्तं

तथापि नात्मा परितुष्यते मे ।

तन्मूलमव्यक्तमगाधबोधं

पृच्छामहे त्वात्मभवात्मभूतम् ॥ ५ ॥

## शब्दार्थ

व्यासः—व्यास ने; उवाच—कहा; अस्ति—है; एव—निश्चय ही; मे—मेरा; सर्वम्—समस्त; इदम्—यह; त्वया—आपके द्वारा; उक्तम्—कहा गया; तथापि—फिर भी; न—नहीं; आत्मा—आत्मा; परितुष्यते—संतुष्ट करता है; मे—मुझको; तत्—जिसका; मूलम्—जड़; अव्यक्तम्—अदृश्य; अगाध-बोधम्—अगाध ज्ञान वाला मनुष्य; पृच्छामहे—पूछता हूँ; त्वा—आपसे; आत्म-भव—स्वतः उत्पन्न; आत्म-भूतम्—सन्तान ।

श्री व्यासदेव ने कहा : आपने मेरे विषय में जो कुछ कहा, वह सब सही है। इन सब के बावजूद मैं संतुष्ट नहीं हूँ। अतएव मैं आपसे अपने असंतोष के मूल कारण के विषय में पूछ रहा हूँ, क्योंकि आप स्वयंभू ( बिना भौतिक माता पिता के उत्पन्न ब्रह्मा ) की सन्तान होने के कारण अगाध ज्ञान से युक्त व्यक्ति हैं।

**तात्पर्य :** भौतिक जगत में प्रत्येक व्यक्ति शरीर या मन की पहचान आत्मा के साथ करता है। इस तरह इस भौतिक जगत का सारा ज्ञान या तो शरीर से या मन से सम्बन्धित होता है और यही समस्त विषादों का मूल कारण है। इसका सदा ही पता नहीं चल पाता, भले ही कोई भौतिकतावादी ज्ञान का कितना ही बड़ा पंडित क्यों न हो। अतः ऐसे विषादों के मूल कारण के निराकरण के लिए नारद जैसे पुरुष के पास पहुँचना अच्छा रहता है। नारद के पास क्यों जाया जाय, इसकी व्याख्या आगे की गई है।

स वै भवान् वेद समस्तगुह्य-  
मुपासितो यत्पुरुषः पुराणः ।  
परावरेणो मनसैव विश्वं  
सृजत्यवत्यत्ति गुणैरसङ्गः ॥ ६ ॥

### शब्दार्थ

सः—इस तरह; वै—निश्चय ही; भवान्—आप; वेद—जानते हैं; समस्त—समग्र; गुह्यम्—गोपनीय; उपासितः—पूजित; यत्—क्योंकि; पुरुषः—भगवान्; पुराणः—प्राचीनतम्, पुरातन; परावरेणः—भौतिक तथा आध्यात्मिक जगतों के नियन्ता; मनसा—मन से; एव—केवल; विश्वम्—ब्रह्माण्ड को; सृजति—उत्पन्न करते हैं; अवति अत्ति—संहार करते हैं; गुणैः—गुणात्मक पदार्थ से; असङ्गः—निलिप्त।

हे प्रभो, जो कुछ भी गोपनीय है वह आपको ज्ञात है, क्योंकि आप भौतिक जगत के सृष्टा तथा संहारक एवं आध्यात्मिक जगत के पालक आदि भगवान् की पूजा करते हैं जो भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों से परे हैं।

**तात्पर्य :** जो व्यक्ति भगवान् की सेवा में शत-प्रतिशत लगा रहता है, वह समस्त ज्ञान का प्रतीक होता है। ऐसा व्यक्ति जो भक्तिमय सेवा में तो पूर्ण रहता ही है, वह भगवान् के गुणों से भी पूर्ण हो जाता है। इस तरह अष्ट सिद्धियाँ उसके समक्ष नगण्य पड़ जाती हैं। नारद जैसे भक्त अपनी आध्यात्मिक सिद्धि से विलक्षण कार्य कर सकते हैं, जिसे प्राप्त करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति प्रयास कर रहा है। श्रील नारद शत-प्रतिशत पूर्ण जीव हैं, यद्यपि वे भगवान् के समान नहीं हैं।

त्वं पर्यटन्नर्क इव त्रिलोकी-

मन्तश्चरो वायुरिवात्मसाक्षी ।  
 परावरे ब्रह्मणि धर्मतो व्रतैः  
 स्नातस्य मे न्यूनमलं विचक्ष्व ॥ ७ ॥

### शब्दार्थ

त्वम्—आप; पर्यटन्—विचरण करते हुए; अर्कः—सूर्य; इव—सदृश; त्रि-लोकीम्—तीनों लोकों में; अन्तः-चरः—  
 प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में प्रवेश करने वाले; वायुः इव—सर्वव्यापी वायु की भाँति; आत्म—स्वरूपसिद्ध; साक्षी—गवाह;  
 परावरे—कार्य तथा कारण के मामले में; ब्रह्मणि—ब्रह्म में; धर्मतः—अनुशासन सम्बन्धी नियमों के अन्तर्गत; व्रतैः—व्रत  
 में; स्नातस्य—लीन रहने वाले; मे—मेरा; न्यूनम्—कमी, दोष; अलम्—स्पष्ट रूप से; विचक्ष्व—खोज निकालें।

आप सूर्य के समान तीनों लोकों में विचरण कर सकते हैं और वायु के समान प्रत्येक  
 व्यक्ति के अन्दर प्रवेश कर सकते हैं। इसलिए आप सर्वव्यापी परमात्मा के तुल्य हैं। अतः  
 आपसे प्रार्थना है कि नियमों तथा व्रतों का पालन करते हुए दिव्यता में लीन रहने पर भी  
 मुझमें जो कमी हो, उसे खोज निकालें।

तात्पर्य : दिव्य अनुभूति, पुण्यकर्म, देव-पूजा, दान, दया, अहिंसा तथा कड़े अनुशासनिक  
 नियमों के साथ शास्त्रों का अध्ययन—ये सदैव मनुष्य के सहायक बनते हैं।

श्रीनारद उवाच

भवतानुदितप्रायं यशो भगवतोऽमलम् ।  
 येनैवासौ न तुष्येत मन्ये तद्दर्शनं खिलम् ॥ ८ ॥

### शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—श्री नारद ने कहा; भवता—तुम्हारे द्वारा; अनुदित-प्रायम्—प्रायः अप्रशंसित; यशः—महिमा;  
 भगवतः—भगवान् की; अमलम्—निष्कलंक, निर्मल; येन—जिससे; एव—निश्चय ही; असौ—वे ( भगवान् ); न—  
 नहीं; तुष्येत—प्रसन्न होता; मन्ये—मैं सोचता हूँ; तत्—उस; दर्शनम्—दर्शन को; खिलम्—निम्न।

श्री नारद ने कहा : वास्तव में तुमने भगवान् की अलौकिक तथा निर्मल महिमा का  
 प्रसार नहीं किया। जो दर्शन ( शास्त्र ) परमेश्वर की दिव्य इन्द्रियों को तुष्ट नहीं कर पाता, वह  
 व्यर्थ समझा जाता है।

तात्पर्य : परमात्मा के साथ व्यक्तिगत जीव का वैधानिक सम्बन्ध उस शाश्वत स्वामी के नित्य  
 दास होने का है। भगवान् ने जीवों के रूप में अपना विस्तार इसीलिए किया है कि उन्हें उनसे  
 प्रेमपूर्ण सेवा प्राप्त हो सके और इसीसे भगवान् तथा जीव दोनों को सन्तोष प्राप्त हो सकता है।

वेदव्यास जैसे विद्वान ने वैदिक साहित्य में अनेक विस्तार किये, जिनका अन्त वेदान्त दर्शन में होता है, किन्तु इनमें से किसी में भी भगवान् की महिमा का प्रत्यक्ष गान नहीं हुआ था। शुष्क दार्शनिक चिन्तन ब्रह्म जैसे दिव्य विषय से सम्बन्धित होकर भी भगवान् की महिमा के प्रत्यक्ष गुण गान के बिना तनिक भी आकर्षक नहीं होता। दिव्य अनुभूति के लिए भगवान् अन्तिम शब्द हैं। निराकार ब्रह्म या अन्तर्यामी परमात्मा के रूप में परम की अनुभूति उतना दिव्य आनन्द प्रदान करने वाली नहीं होती, जितनी कि उनकी महिमा की साक्षात् अनुभूति होती है।

वेदान्त दर्शन के संकलनकर्ता स्वयं व्यासदेव हैं। किन्तु इसके रचयिता होते हुए भी वे विचलित हैं। अतएव उस वेदान्त के पाठक तथा श्रोता उससे कौन-सा दिव्य आनन्द प्राप्त कर सकेंगे, जिसकी प्रत्यक्ष व्याख्या व्यासदेव ने की ही नहीं? यहीं पर आवश्यकता प्रतीत हुई कि रचनाकार वेदान्त-सूत्र की व्याख्या श्रीमद्भागवत के रूप में करे।

यथा धर्मादयश्चार्था मुनिवर्यानुकीर्तिताः ।

न तथा वासुदेवस्य महिमा ह्यनुवर्णितः ॥ ९ ॥

### शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; धर्म-आदयः—धार्मिक आचरण के चारों नियम; च—तथा; अर्थाः—प्रयोजन; मुनि-वर्य—मुनियों में श्रेष्ठ, तुम्हारे द्वारा; अनुकीर्तिताः—बारम्बार वर्णित; न—नहीं; तथा—उसी प्रकार; वासुदेवस्य—भगवान् श्रीकृष्ण का; महिमा—यश; हि—निश्चय ही; अनुवर्णितः—इस प्रकार से निरन्तर वर्णित।

हे महामुनि, यद्यपि आपने धार्मिक कृत्य इत्यादि चार पुरुषार्थों का विस्तार से वर्णन किया है, किन्तु आपने भगवान् वासुदेव की महिमा का वर्णन नहीं किया है।

तात्पर्य : श्री नारद द्वारा किया गया निदान तुरन्त घोषित कर दिया जाता है। व्यासदेव के विषाद का मूल कारण उनके द्वारा पुराणों के विविध संस्करणों में जान बूझकर भगवान् की महिमा के वर्णन की उपेक्षा करना थी। यद्यपि उन्होंने सामान्य ढंग से भगवान् (श्रीकृष्ण) की महिमा का वर्णन किया है, किन्तु उतना नहीं जितना कि धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष का वर्णन किया है। ये चारों पुरुषार्थ भगवान् की भक्ति की तुलना में अत्यन्त निकृष्ट हैं। प्रामाणिक विद्वान होने के कारण, श्री व्यासदेव इस अन्तर को भलीभाँति जानते थे। फिर भी इस उत्तम कार्य अर्थात् भक्तिमय सेवा

को अधिक महत्त्व प्रदान न करके उन्होंने अपने बहुमूल्य समय का लगभग दुरुपयोग किया था, जिसके कारण वे विषादग्रस्त थे। इससे यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि भगवान् की भक्ति में लगे बिना कोई भी अधिक प्रसन्न नहीं रह सकता। *भगवद्गीता* में इस तथ्य का स्पष्ट उल्लेख हुआ है।

धर्म आदि पुरुषार्थों की शृंखला में मुक्ति अन्तिम पुरुषार्थ है, जिसके बाद मनुष्य शुद्ध भक्तिमय सेवा में प्रवृत्त होता है। यह आत्म-साक्षात्कार या *ब्रह्मभूत* अवस्था कहलाती है। इस *ब्रह्मभूत* अवस्था को प्राप्त करने के बाद मनुष्य सन्तुष्ट हो जाता है। किन्तु यह तुष्टि दिव्य आनन्द की शुरुआत है। मनुष्य को इस सापेक्ष संसार में निरपेक्षता तथा समता प्राप्त करके प्रगति करनी चाहिए। इस समदर्शी अवस्था को पार करके वह भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में स्थिर हो जाता है। *भगवद्गीता* में भगवान् का यही उपदेश है। निष्कर्ष यह है कि *ब्रह्मभूत* अवस्था बनाये रखने तथा दिव्य अनुभूति की मात्रा को बढ़ाने के लिए नारद ने व्यासदेव को प्रोत्साहित किया कि वे भक्तिमार्ग का उत्सुकतापूर्वक बारम्बार वर्णन करें। इससे उनका सारा विषाद मिट जाएगा।

न यद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो  
जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित् ।  
तद्वायसं तीर्थमुशान्ति मानसा  
न यत्र हंसा निरमन्त्युशिवक्षयाः ॥ १० ॥

### शब्दार्थ

न—नहीं; यत्—वह; वचः—वाणी; चित्र-पदम्—अलंकारिक; हरेः—भगवान् का; यशः—महिमा; जगत्—ब्रह्माण्ड; पवित्रम्—पवित्र; प्रगृणीत—वर्णित; कर्हिचित्—मुश्किल से; तत्—उस; वायसम्—कौवे को; तीर्थम्—तीर्थ-स्थान; उशान्ति—सोचते हैं; मानसाः—साधु पुरुष; न—नहीं; यत्र—जहाँ; हंसाः—परमहंस पुरुष; निरमन्ति—आनन्द लेते हैं; उशिव्-क्षयाः—दिव्य धाम के वासी।

जो वाणी सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के वायुमण्डल को परिशुद्ध करने वाले भगवान् की महिमा का वर्णन नहीं करती, उसे साधु पुरुष कौवों के स्थान के समान मानते हैं। चूँकि परमहंस पुरुष दिव्य लोक के वासी होते हैं, अतः उन्हें ऐसे स्थान में कोई आनन्द नहीं मिलता।

तात्पर्य : कौवे तथा हंस अपनी भिन्न-भिन्न मानसिक प्रवृत्तियों के कारण एक-से नहीं होते। सकाम-कर्मियों या रजोगुणी व्यक्तियों की तुलना कौवों से की गई है और परमहंस साधु पुरुषों

की तुलना हंसों से की गई है। कौवों को कूड़ा-करकट फेंका जाने वाला स्थान प्रिय लगता है, जिस प्रकार कि कामी सकाम कर्मियों को सुरा, सुन्दरी तथा स्थूल इन्द्रियतृप्ति के स्थान प्रिय लगते हैं। हंसों को वे स्थान प्रिय नहीं लगते, जहाँ कौवे काँव काँव करने और मिल-मिलाप करने के लिए एकत्र होते हैं। वे इसके बजाय प्राकृतिक छटा वाले स्थानों में देखे जाते हैं, जहाँ निर्मल जल का आगार होता है और जिसमें प्राकृतिक सौंदर्य के नाना रंग के कमलों के नाल सुशोभित रहते हैं। इन दो प्रकार के पक्षियों में यही अन्तर है।

प्रकृति ने विभिन्न योनियों के जीवों को भिन्न-भिन्न मानसिकताएँ दी हैं, अतएव उन्हें एक ही श्रेणी में लाना संभव नहीं है।

इसी प्रकार से विभिन्न मानसिकता वाले व्यक्तियों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार का साहित्य होता है। अधिकांशतया बाजारू-साहित्य कौवों-सरीखे व्यक्तियों को आकृष्ट करने वाला होता है, जिसमें कामुक विषयों का कूड़ा-करकट भरा रहता है। ऐसे विषय सामान्य रूप से स्थूल शरीर तथा सूक्ष्म मन से सम्बद्ध होने से संसारी वार्ताएँ कहे जाते हैं। ये संसारी उपमाओं तथा रूपकों वाली अलंकारमयी भाषा में लिखे होते हैं। ऐसा होने पर इनमें भगवान् की महिमा का वर्णन नहीं रहता। ऐसा पद्य या गद्य, चाहे वह जिस विषय पर भी हो, शव को अलंकृत करने जैसा है। आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत मनुष्य, जो हंसों के समान हैं, ऐसे मृत साहित्य में रुचि नहीं रखते, क्योंकि यह तो आध्यात्मिक दृष्टि से मृत पुरुषों के लिए ही आनन्द का स्रोत होता है। ऐसा रजो तथा तमो गुणी साहित्य विभिन्न शीर्षकों से वितरित किया जाता है, किन्तु इससे मानव की आध्यात्मिक जिज्ञासा की पूर्ति नहीं हो पाती। अतएव हंस सदृश आध्यात्मिक पुरुषों को ऐसे साहित्य से कोई सरोकार नहीं होता। ऐसे उन्नत पुरुषों को *मानस* भी कहा जाता, क्योंकि वे आध्यात्मिक धरातल पर भगवान् की दिव्य स्वैच्छिक सेवा के आदर्श (मानदण्ड) को बनाये रखते हैं। यह चेतना स्थूल शारीरिक इन्द्रिय-तुष्टि के कार्यों या अहंकारी भौतिक मन के सूक्ष्म चिन्तन के लिए सकाम कर्म करने से रोक देती है।



सामाजिक साहित्यिक जन, विज्ञानी, संसारी कवि, मीमांसक तथा राजनीतिज्ञ जो इन्द्रिय-सुख की भौतिक प्रगति में पूर्ण रूप से लीन रहते हैं, सभी माया के हाथ की कठपुतलियाँ हैं। उन्हें उन्हीं स्थानों में आनन्द मिलता है, जहाँ तिरस्क्रित विषय फेंके जाते हैं। श्रीधर स्वामी के अनुसार यह वेश्यागामियों का आनन्द है।

लेकिन जो साहित्य भगवान् की महिमा का वर्णन करता है, उसका आनन्द वे परमहंस उठाते हैं, जिन्होंने मानव कार्यों के सारतत्व को प्राप्त कर लिया है।

तद्वाग्विसर्गो जनताघविप्लवो  
यस्मिन् प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि ।  
नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि यत्  
शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः ॥ ११ ॥

### शब्दार्थ

तत्—उस; वाक्—वाणी; विसर्गः—सृष्टि; जनता—जनसामान्य; अघ—पाप; विप्लवः—क्रान्तिकारी; यस्मिन्—जिसमें; प्रति-श्लोकम्—प्रत्येक श्लोक; अबद्धवति—अनियमित रूप से रचा गया; अपि—होते हुए भी; नामानि—दिव्य नाम आदि.; अनन्तस्य—असीम भगवान् के; यशः—महिमा; अङ्कितानि—चित्रित; यत्—जो; शृण्वन्ति—सुनते हैं; गायन्ति—गाते हैं; गृणन्ति—स्वीकार करते हैं; साधवः—शुद्ध मनुष्य जो निष्ठावान हैं।

दूसरी ओर, जो साहित्य असीम परमेश्वर के नाम, यश, रूपों तथा लीलाओं की दिव्य महिमा के वर्णन से पूर्ण है, वह कुछ भिन्न ही रचना है जो इस जगत की गुमराह सभ्यता के अपवित्र जीवन में क्रान्ति लाने वाले दिव्य शब्दों से ओतप्रोत है। ऐसा दिव्य साहित्य, चाहे वह ठीक से न भी रचा हुआ हो, ऐसे पवित्र मनुष्यों द्वारा सुना, गाया तथा स्वीकार किया जाता है, जो नितान्त निष्कपट होते हैं।

तात्पर्य : महान चिन्तकों की विशेषता है कि वे बुरे से बुरे में से भी श्रेष्ठतम को खोज निकालते हैं। कहा गया है कि बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि विष के कुण्ड से भी अमृत ग्रहण कर ले, गंदगी में भी पड़े सोने को स्वीकार करे, अज्ञात कुल की भी उत्तम तथा सुयोग्य पत्नी ग्रहण कर ले और अछूत से या अछूत कुल से सम्बद्ध शिक्षक से भी सदुपदेश प्राप्त करे। ये कुछ नैतिक शिक्षाएँ हैं जो सभी स्थानों पर, बिना किसी अपवाद के, हर एक पर लागू होती हैं। लेकिन

एक सन्त सामान्य व्यक्ति से काफी उच्च स्तर पर होता है। वह निरन्तर परमेश्वर के महिमा-गान में व्यस्त रहता है, क्योंकि परमेश्वर के पवित्र नाम तथा यश का प्रसार करने से जगत का दूषित वातावरण बदल सकता है और *श्रीमद्भागवत* जैसे दिव्य साहित्य के प्रसार से लोग अपने व्यवहारों में समझदार हो सकते हैं। *श्रीमद्भागवत* के इस श्लोक की व्याख्या करते हुए हमारे समक्ष संकट उत्पन्न हो गया है। हमारे पड़ोसी मित्र चीन ने भारत की सीमा पर सैनिक-आक्रमण कर दिया है। यद्यपि राजनीतिक क्षेत्र से हमें कोई भी सरोकार नहीं है, लेकिन हम देखते हैं कि इसके पूर्व भी भारत तथा चीन थे और दोनों ही देश बिना किसी दुर्भावना के सदियों से शान्तिपूर्वक रहते रहे थे। इसका कारण यह है कि उन दिनों ईश्वर-चेतना का वातावरण था और इस महिमंडल का प्रत्येक देश ईश्वर से डरता था, शुद्ध हृदय वाला तथा सरल था और राजनीतिक कूटनीति का कोई प्रश्न ही न था। चीन तथा भारत ये दोनों देशों के बीच उस भूमि को लेकर झगड़ा करने का कोई कारण नहीं है, जो बसने के लिए उपयुक्त नहीं है, और निश्चय ही इस मामले पर युद्ध करने की तो कोई आवश्यकता ही नहीं है। किन्तु जैसाकि पहले कहा जा चुका है, कलह के युग कलि के कारण थोड़ी सी उत्तेजना से भी झगड़ा हो सकता है। यह किसी अन्य कारण से नहीं, अपितु इस युग के प्रदूषित वातावरण के कारण है—एक वर्ग के लोग *परमेश्वर के नाम तथा यशोगान को रोकने के लिए* नियमबद्ध प्रचार कर रहे हैं। अतएव विश्व भर में *श्रीमद्भागवत* के सन्देश को प्रसारित करने की परम आवश्यकता है। प्रत्येक जिम्मेदार भारतीय नागरिक का यह कर्तव्य है कि वह *श्रीमद्भागवत* के दिव्य संदेश को सर्वोपरि कल्याण तथा वांछित शान्ति लाने के लिए विश्व भर में प्रसारित करे। चूँकि भारत ने अपने इस उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य की उपेक्षा की है, अतएव सारे विश्वभर में इतना संघर्ष हो रहा है तथा संकट छाया है। हमारा विश्वास है कि यदि *श्रीमद्भागवत* का दिव्य संदेश विश्व के अग्रणी लोगों तक ही पहुँच सके, तो निश्चित रूप से हृदय-परिवर्तन होगा और लोग सामान्य रूप से इस संदेश का पालन करेंगे। जनता आधुनिक राजनीतिकोरों तथा नेताओं के हाथ की कठपुतली बनी हुई है। यदि इन नेताओं के ही हृदय परिवर्तित हो सकें, तो विश्व के वातावरण में आमूल परिवर्तन हो सकेगा। हमें

पता है कि जनसामान्य में ईश्वर-चेतना को जगाने तथा विश्व वातावरण का पुनः अध्यात्मीकरण करने के लिए दिव्य संदेशों वाले इस महान ग्रंथ को प्रस्तुत करने का हमारा सद्प्रयास अनेक कठिनाइयों से भरा है। इस विषय को यथेष्ट भाषा में विशेष रूप से विदेशी भाषा में, प्रस्तुत करना निश्चित रूप से विफल प्रयास होगा और चाहे हम जितना भी प्रयास करें इसमें अनेक साहित्यिक त्रुटियाँ रह जाएँगी। लेकिन हमारा विश्वास है कि इस सम्बन्ध में चाहे कितनी भी त्रुटियाँ रह जाएँ, विषय की गम्भीरता पर विचार किया जायेगा और समाज के नेता सर्वशक्तिमान भगवान् के महिमा गान करने के इस ईमानदार प्रयास के कारण इसको स्वीकार करेंगे। जब किसी घर में आग लग जाती है, तो उस घर के रहने वाले अपने पड़ोसियों से, चाहे वे विदेशी हों, सहायता प्राप्त करने के लिए दौड़ जाते हैं और वे बेचारे उनकी भाषा न जानते हुए भी अपने भाव व्यक्त करते हैं और पड़ोसी उनकी आवश्यकता समझ लेते हैं, भले ही वे भाव उनकी भाषा में व्यक्त न हुए हों। *श्रीमद्भागवत* के इस दिव्य संदेश को विश्व के प्रदूषित वायुमण्डल में प्रसारित करने के लिए वैसी ही सहयोग-भावना की आवश्यकता है। आखिर, यह आध्यात्मिक मूल्यों से युक्त तकनीकी विज्ञान है, अतएव हमें तकनीक के विषय में चिन्तित होना है, भाषा के विषय में नहीं। यदि इस महान साहित्य की तकनीकों को विश्व के लोग समझ लें, तो उन्हें सफलता मिल सकती है।

जब विश्व भर की जनता में अनेकानेक भौतिकतावादी कार्य-कलाप चलते रहते हैं, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि कोई व्यक्ति या राष्ट्र तनिक सी उत्तेजना पर किसी दुसरे व्यक्ति या राष्ट्र पर आक्रमण कर दे। इस कलि या कलह युग का यही नियम है। वातावरण पहले से सभी तरह के भ्रष्टाचार से प्रदूषित है और प्रत्येक व्यक्ति इससे भलीभाँति अवगत है। इन्द्रिय-तृप्ति के भौतिकतावादी विचारों से पूर्ण न जाने कितना अवांछित साहित्य भरा पड़ा है। अनेक देशों में अश्लील साहित्य की जाँच करने तथा उस पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए सरकार द्वारा अनेक समितियाँ नियुक्त की जाती हैं। इसका अर्थ यही है कि न तो सरकार, न ही जिम्मेदार जन-नेता ऐसा साहित्य चाहते हैं, तो भी यह बाजारों में मिलता है, क्योंकि लोग इन्द्रिय-तृप्ति के लिए इसे चाहते हैं। सामान्य रूप से लोग कुछ पढ़ना चाहते हैं (यह प्राकृतिक प्रवृत्ति है), लेकिन चूँकि

उनके मस्तिष्क दूषित हैं, अतएव वे ऐसा साहित्य पसन्द करते हैं। ऐसी परिस्थितियों में *श्रीमद्भागवत* जैसे दिव्य साहित्य से न केवल सामान्य जनों के भ्रष्ट मन के कार्यकलाप घटेंगे, अपितु यह उनकी उस चाह को शमित करेगा जिसके लिए वे रोचक साहित्य पढ़ना चाहते हैं। प्रारम्भ में, वे इसे पसन्द न भी करें, क्योंकि जिसे पीलिया हो जाता है वह मिश्री नहीं खाना चाहता, लेकिन हमें यह ज्ञात होना चाहिए कि मिश्री ही पीलिया का एक मात्र उपचार है। इसी प्रकार *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* के पठन को लोकप्रिय बनाने का विधिवत् प्रचार कार्य होना चाहिए, क्योंकि यह इन्द्रियतृप्ति रूपी पीलिया के लिए मिश्री का काम करेगा। जब लोग इस साहित्य के प्रति रुचि उत्पन्न कर लेंगे, तो वह अन्य साहित्य, जो समाज में विष फैला रहा है, स्वतः ही समाप्त हो जायेगा।

अतः हमारा विश्वास है कि मानव समाज का प्रत्येक व्यक्ति *श्रीमद्भागवत* का स्वागत करेगा, भले ही उसके प्रस्तुत रूप में अनेक त्रुटियाँ क्यों न हों, क्योंकि इसकी संस्तुति श्री नारद ने की है, जो कृपा करके इस अध्याय में प्रकट हुए हैं।

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं  
न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् ।  
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे  
न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम् ॥ १२ ॥

### शब्दार्थ

नैष्कर्म्यम्—आत्म-साक्षात्कार ( सकाम कर्मों के बन्धन से मुक्त होकर ); अपि—के बावजूद; अच्युत—अमोघ भगवान्; भाव—विचार; वर्जितम्—विहीन, से रहित; न—नहीं; शोभते—अच्छा लगता है; ज्ञानम्—दिव्य ज्ञान; अलम्—धीरे धीरे; निरञ्जनम्—उपाधियों से रहित; कुतः—कहाँ है; पुनः—फिर; शश्वत्—निरन्तर; अभद्रम्—अहितकर, अशुभ; ईश्वरे—ईश्वर के प्रति; न—नहीं; च—तथा; अर्पितम्—अर्पित किया हुआ; कर्म—कर्म; यत् अपि—जो है; अकारणम्—निष्काम।

आत्म-साक्षात्कार का ज्ञान समस्त भौतिक आसक्ति से रहित होने पर भी शोभा नहीं देता यदि वह अच्युत ( ईश्वर ) के भाव से शून्य हो। तो फिर उन सकाम कर्मों से क्या लाभ है, यदि वे भगवान् की भक्ति के लिए काम न आ सकें और जो स्वभावतः प्रारम्भ से ही दुखप्रद तथा क्षणिक होते हैं?

**तात्पर्य :** जैसाकि ऊपर कहा गया है, न केवल भगवान् की दिव्य महिमा से विहीन सामान्य साहित्य भर्त्सना के योग्य है, अपितु भक्तिमय सेवा से विहीन निराकार ब्रह्म विषयक वैदिक साहित्य तथा चिन्तन भी भर्त्सना के योग्य है। यदि उपर्युक्त आधार पर निराकार ब्रह्म के चिन्तन की भर्त्सना की जा सकती है, तो उस सामान्य सकाम कर्म के विषय में क्या कहा जाय, जो भक्ति के उद्देश्य की पूर्ति करने वाला है ही नहीं? ऐसे तार्किक ज्ञान तथा सकाम कर्म से किसी को सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। सकाम कर्म, जिसमें लगभग सारे लोग लगे रहते हैं, या तो प्रारम्भ में ही या फिर अन्त में सदैव कष्टकारक होता है। यह तभी लाभप्रद हो सकता है, जब इसे भगवद्भक्ति के अधीन किया जाए। *भगवद्गीता* में भी इसकी पुष्टि की गई है कि ऐसे सकाम कर्म के फल को भगवान् की सेवा में अर्पित कर देना चाहिए, अन्यथा वह भौतिक बन्धन का कारण होता है। सकाम कर्म के प्रामाणिक भोक्ता भगवान् हैं और जब इसे जीव की इन्द्रियतृप्ति में लगाया जाता है, तो यह घोर कष्ट का कारण बन जाता है।

अथो महाभाग भवानमोघदृक्  
शुचिश्रवाः सत्यरतो धृतव्रतः ।  
उरुक्रमस्याखिलबन्धमुक्तये  
समाधिनानुस्मर तद्विचेष्टितम् ॥ १३ ॥

### शब्दार्थ

अथो—अतः; महा-भाग—परम भाग्यशाली; भवान्—आप; अमोघ-दृक्—सिद्ध दृष्टा; शुचि—पवित्र, निर्मल; श्रवाः—प्रसिद्ध; सत्य-रतः—सत्य व्रत को पालने वाला; धृत-व्रतः—आध्यात्मिक गुणों में स्थित; उरुक्रमस्य—अलौकिक कार्य करनेवाले ( ईश्वर ) का; अखिल—सम्पूर्ण जगत का; बन्ध—बन्धन; मुक्तये—मुक्ति के लिए; समाधिना—समाधि के द्वारा; अनुस्मर—बारम्बार सोच कर वर्णन करो; तत्-विचेष्टितम्—भगवान् की विविध लीलाओं को।

हे व्यासदेव, तुम्हारी दृष्टि सभी तरह से पूर्ण है। तुम्हारी उत्तम ख्याति निष्कलुष है। तुम अपने व्रत में दृढ़ हो और सत्य में स्थित हो। अतएव तुम समस्त लोगों को भौतिक बन्धन से मुक्ति दिलाने के लिए भगवान् की लीलाओं के विषय में समाधि के द्वारा चिन्तन कर सकते हो।

**तात्पर्य :** जनसामान्य की स्वभाव से ही साहित्य के प्रति रुचि होती है। वे अज्ञात के विषय के बारे में किसी अधिकारी से सुनना तथा पढ़ना चाहते हैं, लेकिन उनकी रुचि ऐसे दुर्भाग्यपूर्ण साहित्य से बिगड़ जाती है, जो इन्द्रियों की तृप्ति कराने वाले विषयों से भरा होता है। ऐसे साहित्य में अनेक प्रकार की लौकिक कविताएँ तथा दार्शनिक कल्पनाएँ दी रहती हैं, जो न्यूनाधिक रूप से माया से प्रभावित रहती हैं और जिनका समापन इन्द्रिय-तृप्ति में होता है। ऐसा साहित्य, यद्यपि सही अर्थ में व्यर्थ होता है, लेकिन अल्पज्ञ लोगों के ध्यान को आकृष्ट करने के लिए खूब सजाया हुआ रहता है। इस प्रकार आसक्त जीव भवबन्धन में अधिकाधिक फँसते जाते हैं और हजारों पीढ़ियों तक उनके मोक्ष की कोई आशा नहीं रहती। वैष्णवों में श्रेष्ठतम श्री नारद ऋषि ऐसे व्यर्थ साहित्य के अभागे शिकारों के प्रति करुणा से अभिभूत होकर, श्री व्यासदेव को ऐसा दिव्य साहित्य रचने के लिए उपदेश देते हैं, जो न केवल आकर्षक हो अपितु सभी प्रकार के बन्धनों से मोक्ष प्रदान कराने वाला भी हो। श्रील व्यासदेव या उनके प्रतिनिधि सुपात्र हैं, क्योंकि वे वस्तुओं को सही परिप्रेक्ष्य में देखने में भलीभाँति प्रशिक्षित हैं। श्रील व्यासदेव तथा उनके प्रतिनिधि अपने आध्यात्मिक प्रकाश के कारण शुद्ध विचार वाले हैं, अपनी भक्ति के कारण दृढ़व्रती हैं और भौतिक कार्यकलापों में सड़ रही पतिततात्माओं का उद्धार करने के लिए कटिबद्ध हैं। पतिततात्माएँ नित्यप्रति नूतन समाचार प्राप्त करने की इच्छुक रहती हैं और व्यासदेव या नारद जैसे अध्यात्मवादी ही उन्हें आध्यात्मिक जगत के असीमित समाचार प्रदान कर सकते हैं। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि यह भौतिक जगत अखिल सृष्टि का एक मात्र खंड है और यह पृथ्वी सम्पूर्ण भौतिक जगत का एक मात्र अंश है।

सारे विश्व में सहस्रों ऐसे साहित्यकार हैं, जिन्होंने हजारों-लाखों वर्षों से जनता की सूचना के लिए हजारों साहित्यिक कृतियाँ तैयार की हैं। लेकिन दुर्भाग्यवश इनमें से किसी के द्वारा भी पृथ्वी पर शान्ति तथा अमनचैन नहीं लाया जा सका। इसका कारण है इन कृतियों की आध्यात्मिक शून्यता। अतएव वैदिक साहित्य, विशेष रूप से *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* की संस्तुति की जाती है, जिससे भौतिक सभ्यता के उस चंगुल से अभीष्ट छुटकारा प्राप्त हो सके, जिससे मानव

शक्ति का प्रमुख अंश क्षीण होती जा रहा है। *भगवद्गीता* स्वयं भगवान् द्वारा कहा गया संदेश है, जिसका अंकन व्यासदेव द्वारा हुआ और *श्रीमद्भागवत* उन्हीं भगवान् कृष्ण की लीलाओं का दिव्य आख्यान है। शाश्वत शान्ति तथा कष्टों से मुक्ति की जीव की लालसाओं को तुष्ट करने में यह ग्रंथ सर्व समर्थ है। अतएव *श्रीमद्भागवत* पूरे ब्रह्माण्ड के जीवों को समस्त प्रकार के भौतिक बन्धनों से पूर्ण छुटकारा दिलाने के लिए है। भगवान् की लीलाओं का ऐसा दिव्य आख्यान व्यासदेव तथा उनके प्रामाणिक प्रतिनिधियों जैसे मुक्त जीवों द्वारा ही वर्णित किया जा सकता है, जो निरन्तर भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लीन रहते हैं। केवल ऐसे ही भक्तों को भगवान् की लीलाएँ तथा उनकी दिव्य प्रकृति भक्ति के कारण स्वतः प्रकट हो पाती है। दूसरा कोई, चाहे अनेक वर्षों तक चिन्तन क्यों न करे, न तो भगवान् के कार्यों को जान सकता है, न उनका वर्णन कर सकता है। *भागवत्* के वर्णन इतने सूक्ष्म तथा सही होते हैं कि इस महान साहित्य में पाँच हजार वर्ष पूर्व जो भी भविष्यवाणी की गई थी, वह अब सही उतर रही है। अतएव लेखक की दृष्टि भूत, वर्तमान तथा भविष्य को पहचानती है। व्यासदेव जैसे मुक्त व्यक्ति न केवल दृष्टि-शक्ति तथा पाण्डित्य के मामले में पूर्ण हैं, अपितु श्रवण, चिन्तन, अनुभव तथा अन्य सभी ऐन्द्रिय कार्यों में भी सिद्ध होते हैं। मुक्त जीव की इन्द्रियाँ पूर्ण होती हैं और ऐसी पूर्ण इन्द्रियों से ही इन्द्रियों के स्वामी हृषीकेश या भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा की जा सकती है। अतः *श्रीमद्भागवत* वेदों के संकलनकर्ता, परम सिद्ध व्यक्ति श्रील वेदव्यास द्वारा किया गया पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का परिपूर्ण वर्णन है।

ततोऽन्यथा किञ्चन यद्विवक्षतः

पृथग्दृशस्तत्कृतरूपनामभिः ।

न कर्हिचित्क्वापि च दुःस्थिता मति-

र्लभेत वाताहतनौरिवास्पदम् ॥ १४ ॥

**शब्दार्थ**

ततः—उससे; अन्यथा—पृथक्; किञ्चन—कुछ; यत्—जो भी; विवक्षतः—वर्णन करने के लिए इच्छुक; पृथक्—अलग से; दृशः—दृष्टि; तत्-कृत—उसकी प्रतिक्रिया; रूप—रूप; नामभिः—नामों से; न कर्हिचित्—कभी नहीं; क्वापि—कोई; च—तथा; दुःस्थिता मतिः—दोलायमान मन; लभेत—प्राप्त करता है; वात-आहत—वायु से प्रताड़ित; नौः—नाव; इव—सदृश; आस्पदम्—स्थान ।

तुम भगवान् के अतिरिक्त विभिन्न रूपों, नामों तथा परिणामों के रूप में जो कुछ भी वर्णन करना चाहते हो, वह प्रतिक्रिया द्वारा मन को उसी प्रकार आंदोलित करने वाला है, जिस प्रकार आश्रय विहीन नाव को चक्रवात आंदोलित करता है।

तात्पर्य : श्री व्यासदेव वैदिक साहित्य के समस्त वर्णनों के सम्पादनकर्ता हैं, अतएव उन्होंने अनेक प्रकारों से दिव्य अनुभूति का वर्णन किया है—यथा सकाम कर्म, मीमांसा, योगशक्ति तथा भक्तिमय सेवा। इसके अतिरिक्त, उन्होंने विविध पुराणों में अनेक देवताओं की विभिन्न रूपों तथा नामों से पूजा किये जाने की संस्तुति भी की है। इसका परिणाम यह हुआ है कि जन-सामान्य भ्रांत हैं कि वे भगवान् की सेवा में अपना मन किस तरह स्थिर करें; वे आत्म-साक्षात्कार के सही मार्ग को ढूँढने के लिए सदा भ्रांत रहते हैं। श्रील नारददेव वेदव्यास द्वारा संकलित किए गए वैदिक साहित्य की इसी त्रुटि विशेष पर बल दे रहे हैं और इस तरह वे प्रत्येक वस्तु को केवल परमेश्वर से सम्बन्धित करते हुए वर्णन करने के लिए कह रहे हैं। वस्तुतः भगवान् के अतिरिक्त किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं है। भगवान् विभिन्न विस्तारों (अंशों) के रूप में प्रकट होते हैं। वे पूर्ण वृक्ष के मूल हैं। वे सम्पूर्ण शरीर के मानो उदर हैं। मूल में जल डालना ही वृक्ष को सीचने की सही विधि है। ठीक इसी तरह, पूरे शरीर को शक्ति प्रदान करने के लिए उदर को भोजन प्रदान करना है। इसीलिए श्रील व्यासदेव को चाहिए था कि *भागवत पुराण* के अतिरिक्त अन्य किसी पुराण का संकलन न करते, क्योंकि उसमें रंचमात्र विचलन से आत्म-साक्षात्कार में बड़ा उपद्रव हो सकता है। यदि रंचमात्र विचलन से ऐसा उपद्रव हो सकता है, तो परम सत्य भगवान् से पृथक् विचारों के जानबूझकर किये गए विस्तार के विषय में क्या कहा जाए? देवताओं की पूजा का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें सर्वेश्वरवाद (बहुदेवतावाद) का जन्म होता है, जिसकी परिणति अनेक धार्मिक सम्प्रदायों की उत्पत्ति में होती है, जो *भागवत* के उन सिद्धान्तों की उन्नति के लिए घातक है, जो दिव्य प्रेमाभक्ति द्वारा भगवान् के नित्य सम्बन्ध में आत्म-साक्षात्कार के लिए सही दिशा का निर्देश करने वाले हैं। इस प्रसंग में चक्रवात से विचलित नाव का उदाहरण



उपयुक्त है। बहुदेवतावादी का विचलित मन उद्देश्य के स्थिर न होने के कारण कभी भी आत्म-साक्षात्कार की पूर्णता को प्राप्त नहीं कर पाता।

जुगुप्सितं धर्मकृतेऽनुशासतः

स्वभावरक्तस्य महान् व्यतिक्रमः ।

यद्वाक्यतो धर्म इतीतरः स्थितो

न मन्यते तस्य निवारणं जनः ॥ १५ ॥

### शब्दार्थ

जुगुप्सितम्—अत्यन्त घृणित; धर्म-कृते—धर्म हेतु; अनुशासतः—आदेश के अनुसार; स्वभाव-रक्तस्य—स्वभाव से अनुरक्त; महान्—महान; व्यतिक्रमः—अनुचित; यत्-वाक्यतः—जिसके उपदेश से; धर्मः—धर्म; इति—इस प्रकार है; इतरः—जन-सामान्य; स्थितः—स्थिर; न—नहीं; मन्यते—सोचते हैं; तस्य—उसका; निवारणम्—निषेध; जनः—वे लोग।

सामान्य लोगों में भोग करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है और तुमने धर्म के नाम पर उन्हें वैसा करते रहने के लिए प्रोत्साहित किया है। यह अत्यन्त घृणित तथा अत्यन्त अनुचित है। चूँकि वे लोग तुम्हारे उपदेशों के अनुसार मार्गदर्शन प्राप्त करते हैं, अतः वे ऐसे कार्यों को धर्म के नाम पर ग्रहण करेंगे और निषेधों की भी परवाह नहीं करेंगे।

तात्पर्य : श्रील नारद ने यहाँ पर *महाभारत* तथा अन्य साहित्य में उद्धृत सकाम कर्मों के नियमित अनुष्ठानों के आधार पर, श्रील वेदव्यास द्वारा संकलित विभिन्न वैदिक ग्रंथों की भर्त्सना की है। मानव (प्राणियों) में जन्म-जन्मान्तर से दीर्घकालीन भौतिक संगति के कारण, भौतिक शक्ति पर प्रभुता प्राप्त करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। उन्हें मानव जीवन के उत्तरदायित्व का कोई बोध नहीं हो पाता। यह मानव जीवन मोहमय पदार्थ के चंगुल से छूटने का अवसर होता है। वेद भगवद्धाम वापस जाने के निमित्त हैं। ८४,००,००० योनियों के आवागमन-चक्र में घूमते रहना दण्डित बद्धजीवों के लिए बन्दी जीवन के समान है। मनुष्य योनि इस बन्दी जीवन से बाहर निकलने का सुअवसर होता है, अतएव मनुष्य का एक-मात्र कर्तव्य यह है कि वह भगवान् के साथ अपने भूले हुए सम्बन्ध को पुनः स्थापित करे। ऐसी परिस्थितियों में, धार्मिक कृत्यों की आड़ में इन्द्रिय भोग की योजना बनाने को प्रोत्साहन नहीं दिया जाना चाहिए। मानवशक्ति के ऐसे

विक्षेप से पथभ्रष्ट सभ्यता का जन्म होता है। श्रील व्यासदेव *महाभारत* इत्यादि में वैदिक व्याख्या के प्रमाण स्वरूप हैं, अतः उनके द्वारा किसी भी रूप में इन्द्रिय भोग को प्रोत्साहन देना आध्यात्मिक विकास में भारी अवरोध है, क्योंकि लोग उन भौतिक कार्यों को त्यागना नहीं चाहेंगे, जो उन्हें भव-बन्धन में जकड़े हुए हैं। मानव सभ्यता की किसी विशेष अवस्था में जब धर्म के नाम पर ऐसे भौतिक कार्यों का (यथा यज्ञ के नाम पर पशु-बलि का) बोलबाला हुआ, तो स्वयं भगवान् बुद्ध के रूप में अवतरित हुए और धर्म के नाम पर पशु-वध बन्द करने के उद्देश्य से वेद-प्रमाण की निन्दा की। नारद को इसका पूर्वाभास हो गया था, अतएव उन्होंने ऐसे साहित्य की निन्दा की। आज भी मांस-भक्षी लोग धर्म के नाम पर किसी देवता या देवी के समक्ष पशु-बलि चढ़ाते हैं, क्योंकि किन्हीं-किन्हीं वैदिक ग्रंथों में ऐसे नियमित यज्ञों की संस्तुति की जाती है। उन्हें मांसाहार से विरत होने के उद्देश्य से ही इस प्रकार की संस्तुति की जाती है, लेकिन धीरे-धीरे ऐसे धार्मिक कृत्यों के उद्देश्य भुला दिये जाते हैं और कसाई घर प्रधान बन जाते हैं। इसका कारण यह है कि ऐसे मूर्ख भौतिकतावादी व्यक्ति उन लोगों की बातें नहीं सुनना चाहते, जो वैदिक अनुष्ठानों की व्याख्या करने में समर्थ हैं।

वेदों में स्पष्ट कहा गया है कि जीवन की सफलता न तो किसी बृहद् ग्रंथ के लिखने, न धन संचय करने और न ही सन्तति बढ़ाने में है। इसे अनासक्ति द्वारा ही प्राप्त किया जाता है। लेकिन भौतिकतावादी व्यक्ति ऐसे आदेशों को अनसुना करते हैं। उनके अनुसार तथाकथित संन्यास आश्रम उन व्यक्तियों के लिए है, जो किसी शारीरिक दोष के कारण जीविका कमाने में अक्षम हैं या उन व्यक्तियों के लिए है, जिन्हें पारिवारिक सम्पन्नता नहीं मिल पाई।

निस्सन्देह, *महाभारत* जैसे इतिहास-ग्रंथों में आध्यात्मिक विषयों के साथ-साथ लौकिक विषयों की भी चर्चा है। *महाभारत* में ही *भगवद्गीता* सन्निविष्ट है। *महाभारत* की सम्पूर्ण विचारधारा की अन्तिम परिणति *भगवद्गीता* के इस चरम उपदेश के रूप में होती है कि मनुष्य को चाहिए कि सारी व्यस्तताएँ त्याग कर, भगवान् श्रीकृष्ण के चरणारविन्दों की शरण में जाकर, अपने को पूरी तरह लगा दे। लेकिन भौतिकतावादी प्रवृत्तियों वाले लोग राजनीतिक, अर्थशास्त्र

तथा परोपकारी कार्यों में अधिक रुचि रखते हैं, जिनका उल्लेख महाभारत में है और मुख्य विषय अर्थात् भगवद्गीता के प्रति कम रुचि दिखाते हैं। श्री नारद व्यासदेव की इस समझौतावादी प्रवृत्ति की प्रत्यक्ष भर्त्सना करते हैं और यह उपदेश देते हैं कि प्रत्यक्ष रूप से यह घोषित करें कि मनुष्य जीवन की मूलभूत आवश्यकता भगवान् के साथ अपने नित्य सम्बन्ध को अनुभव करना तथा अविलम्ब भगवान् की शरण में जाना है।

किसी विशेष रोग से पीड़ित मरीज प्रायः उसके लिए वर्जित की गई वस्तुओं को खाने को ललचाता है। लेकिन दक्ष चिकित्सक कभी भी मरीज से समझौता करके उसे कुपथ्य खाने की अनुमति नहीं देता। भगवद्गीता में यह भी कहा गया है कि सकाम कर्म में अनुरक्त व्यक्ति को उसकी वृत्ति से पराङ्मुख नहीं करना चाहिए, क्योंकि उसे धीरे-धीरे आत्म-साक्षात्कार के पद तक ऊपर उठया जा सकता है। कभी-कभी यह उन लोगों पर लागू होता है, जो बिना किसी आध्यात्मिक अनुभूति के कोरे मीमांसक बने रहते हैं। लेकिन जो भक्ति के पथ पर लगे हैं, उन्हें ऐसे उपदेश की हमेशा आवश्यकता नहीं रहती।

विचक्षणोऽस्यार्हति वेदितुं विभो-  
रनन्तपारस्य निवृत्तितः सुखम् ।  
प्रवर्तमानस्य गुणैरनात्मन-  
स्ततो भवान्दर्शय चेष्टितं विभोः ॥ १६ ॥

### शब्दार्थ

विचक्षणः—अत्यन्त पटु; अस्य—उसका; अर्हति—के योग्य है; वेदितुम्—जानने के लिए; विभोः—भगवान् का; अनन्त-पारस्य—असीम का; निवृत्तितः—से निवृत्त; सुखम्—भौतिक सुख; प्रवर्तमानस्य—अनुरक्तों का; गुणैः—भौतिक गुणों से; अनात्मनः—आध्यात्मिक ज्ञान से शून्य; ततः—अतः; भवान्—आप; दर्शय—मार्गदर्शन करें; चेष्टितम्—कार्यकलाप; विभोः—भगवान् के।

भगवान् असीम हैं। केवल वही निपुण व्यक्ति इस आध्यात्मिक ज्ञान को समझने के लिए योग्य है, जो भौतिक सुख के कार्यकलापों से विरक्त हो चुका हो। अतः जो लोग भौतिक आसक्ति के कारण सुस्थापित नहीं हैं, उन्हीं को तुम परमेश्वर के दिव्य कार्यों के वर्णनों के माध्यम से दिव्य अनुभूति की विधियाँ दिखलाओ।

**तात्पर्य :** ईश्वरीय-विद्या का विज्ञान कठिन विषय है, विशेष रूप से जब उसमें भगवान् के दिव्य स्वभाव का वर्णन हो। यह ऐसा विषय नहीं है, जिसे भौतिक कार्यों में अत्यधिक आसक्त रहने वाले व्यक्ति समझ सकें। केवल वे ही इस महान विज्ञान का अध्ययन कर सकते हैं, जो आध्यात्मिक ज्ञान के अनुशीलन द्वारा भौतिक कार्यों से प्रायः निवृत्त हो चुके हैं। *भगवद्गीता* में स्पष्ट कहा गया है कि हजारों-लाखों व्यक्तियों में से कोई एक व्यक्ति ऐसा होता है, जो दिव्य अनुभूति में प्रवेश करने का अधिकारी होता है। और ऐसे हजारों स्वरूपसिद्ध व्यक्तियों में से कुछ ही व्यक्ति उस विशेष ईश्वरीय ज्ञान को समझ सकते हैं, जिसमें ईश्वर को पुरुष रूप में वर्णित किया जाता है। अतएव नारद श्री व्यासदेव को प्रत्यक्ष उपदेश देते हैं कि वे भगवान् की दिव्य लीलाओं को बताते हुए ईश्वर के विज्ञान का वर्णन करें। व्यासदेव स्वयं इस विज्ञान में पटु हैं और वे भौतिक भोग से विरक्त हैं; अतएव वे इसका वर्णन करने के अधिकारी व्यक्ति हैं और उनके पुत्र, शुकदेव गोस्वामी, उनसे इसे ग्रहण करने के लिए सही व्यक्ति हैं। *श्रीमद्भागवत* सर्वोत्कृष्ट ईश्वरीय विज्ञान है, अतएव यह जनसामान्य पर औषधि का सा प्रभाव दिखा सकता है। चूँकि इस ग्रंथ में भगवान् की दिव्य लीलाएँ हैं, अतएव भगवान् तथा इस ग्रंथ में कोई अन्तर नहीं है। यह ग्रंथ भगवान् का साहित्यावतार है। इस तरह निपट साधारण जन भी भगवान् की लीलाओं का वर्णन सुन सकते हैं। इससे वे भगवान् का सान्निध्य प्राप्त कर सकते हैं और इस तरह क्रमशः भवरोग से शुद्ध हो सकते हैं। यही नहीं, पटु भक्तगण ऐसी नवीन विधियाँ निकाल सकते हैं, जिनसे वे देश तथा काल के अनुसार अभक्तों को बदल सकें। भक्तिमय गतिशील सेवा प्रक्रिया है और पटु भक्तगण भौतिकतावादी जनता की मन्द बुद्धि में इसे प्रविष्ट कराने की कोई सरल विधि निकाल सकते हैं। भगवान् की सेवा के लिए भक्तों द्वारा सम्पन्न किये गये ऐसे दिव्य कार्यकलापों से भौतिकतावादी मनुष्यों के मूर्ख समाज में नवीन जीवन-व्यवस्था लाई जा सकती है। इस ओर भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु तथा उनके परवर्ती अनुयायियों ने विशेष दक्षता दिखलाई है। इस विधि का अनुगमन करते हुए इस कलह-प्रधान युग के भौतिकतावादी मनुष्यों को शान्तिमय जीवन तथा दिव्य अनुभूति की अवस्था प्रदान की जा सकती है।

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरे-  
 भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि ।  
 यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं  
 को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः ॥ १७ ॥

### शब्दार्थ

त्यक्त्वा—त्याग कर; स्व-धर्मम्—अपने वृत्तिपरक कार्य को; चरण-अम्बुजम्—चरणकमल; हरेः—हरि ( भगवान् ) के;  
 भजन्—भक्ति के दौरान; अपक्वः—कच्ची, अग्रौढ; अथ—के लिए; पतेत्—गिरता है; ततः—उस स्थान से; यदि—  
 यदि; यत्र—जहाँ; क्व—किस तरह का; वा—या ( व्यंग्य से ); अभद्रम्—प्रतिकूल; अभूत्—होगा; अमुष्य—उसका;  
 किम्—कुछ नहीं; कः वा अर्थः—क्या लाभ है; आप्तः—प्राप्त किया हुआ; अभजताम्—अभक्तों का; स्व-धर्मतः—  
 अपनी वृत्ति में लगे रह कर।

जिसने भगवान् की भक्तिमय सेवा में प्रवृत्त होने के लिए अपनी भौतिक वृत्तियों को त्याग दिया है, वह कभी-कभी कच्ची अवस्था में नीचे गिर सकता है, तो भी उसके असफल होने का कोई खतरा नहीं रहता। इसके विपरीत, अभक्त, चाहे अपनी वृत्तियों ( कर्तव्यों ) में पूर्ण रूप से रत क्यों न हो, उसे कुछ भी लाभ नहीं होता।

तात्पर्य : जहाँ तक मानव जाति के कर्तव्यों का सम्बन्ध है, उसके कर्तव्य असंख्य हैं। प्रत्येक व्यक्ति, न केवल अपने माता-पिता, कुटुम्बियों, समाज, देश, मानवता, अन्य जीवों एवं देवताओं के प्रति कर्तव्यबद्ध है, अपितु महान दार्शनिकों, कवियों, वैज्ञानिकों के प्रति भी है। शास्त्रों का मत है कि मनुष्य ऐसे सारे कर्तव्यों को त्याग कर भगवान् की शरण ग्रहण कर सकता है। अतः यदि कोई इस तरह से करता है और यदि भगवान् की भक्तिमय सेवा करने में सफल हो जाता है, तो यह शुभ ही है। लेकिन कभी-कभी ऐसा होता है कि मनुष्य क्षणिक भावावेश में आकर भगवान् की सेवा में समर्पित तो हो जाता है, लेकिन अन्त तक किसी न किसी कारण से, कुसंगतिवश सेवामार्ग से च्युत हो जाता है। इतिहास में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। भरत महाराज को एक मृग के प्रति आसक्त होने के कारण मृग का शरीर धारण करना पड़ा। जब वे मर रहे थे, तो मृग के विषय में सोच रहे थे। अतएव अगले जन्म में वे मृग बने, लेकिन वे अपने पूर्वजन्म की घटना को भूले नहीं थे। इसी प्रकार शिवजी के चरणों के प्रति अपराध करने के कारण चित्रकेतु का भी पतन हुआ। लेकिन, तो भी, भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करने पर यहाँ बल

दिया जा रहा है। भले ही इसमें से नीचे गिरने का भय बना रहता है, क्योंकि यद्यपि मनुष्य भक्ति कार्यों से नीचे गिरता है, लेकिन वह भगवान् के चरणकमलों को कभी भी नहीं भूलता। एक बार भगवान् की भक्तिमय सेवा में लग जाने पर वह सभी परिस्थितियों में उनकी सेवा में बना रहेगा। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि किञ्चित् भक्ति भी मनुष्य को अत्यन्त घातक स्थिति से बचा सकती है। इतिहास में ऐसी घटनाओं के अनेक उदाहरण हैं। इनमें से अजामिल एक है। अजामिल अपने प्रारम्भिक जीवन में भक्त था, किन्तु युवावस्था में वह भक्ति से च्युत हो गया। तो भी भगवान् ने अन्त में उसकी रक्षा की।

तस्यैव हेतोः प्रयतेत कोविदो  
न लभ्यते यद्भ्रमतामुपर्यधः ।  
तल्लभ्यते दुःखवदन्यतः सुखं  
कालेन सर्वत्र गभीररंहसा ॥ १८ ॥

### शब्दार्थ

तस्य—उसी; एव—केवल; हेतोः—कारण का; प्रयतेत—प्रयत्न करना चाहिए; कोविदः—आध्यात्मिक रूप से प्रवृत्त;  
न—नहीं; लभ्यते—मिलता है; यत्—जो; भ्रमताम्—विचरण करते हुए; उपरि अधः—ऊपर से नीचे तक; तत्—वह;  
लभ्यते—प्राप्त किया जा सकता है; दुःखवत्—दुखों के समान; अन्यतः—पूर्व कर्म के कारण; सुखम्—इन्द्रिय-भोग;  
कालेन—समय के साथ; सर्वत्र—सभी जगह; गभीर—सूक्ष्म; रंहसा—उन्नति, प्रगति।

जो व्यक्ति वास्तव में बुद्धिमान तथा तत्वज्ञान में रूचि रखने वाले हैं, उन्हें चाहिए कि वे उस सार्थक अन्त के लिए ही प्रयत्न करें, जो उच्चतम लोक ( ब्रह्मलोक ) से लेकर निम्नतम लोक ( पाताल ) तक विचरण करने से भी प्राप्य नहीं है। जहाँ तक इन्द्रिय-भोग से प्राप्त होने वाले सुख की बात है, यह तो कालक्रम से स्वतः प्राप्त होता है, जिस प्रकार हमारे न चाहने पर भी हमें दुख मिलते रहते हैं।

तात्पर्य : प्रत्येक मनुष्य प्रत्येक स्थान में विभिन्न प्रयासों से अधिकाधिक इन्द्रिय-भोग पाना चाहता है। कुछ मनुष्य व्यापार, उद्योग, आर्थिक विकास, राजनीतिक श्रेष्ठता आदि में लगे हुए हैं, तो कुछ लोग सकाम कर्मों में निरत हैं जिससे अगले जन्म में वे उच्चतर लोकों में जाकर सुख भोग सकें। ऐसा कहा जाता है कि चन्द्रमा के निवासी *सोमरस* पीकर अधिक इन्द्रिय-भोग करने

में समर्थ हैं और उत्तम उपकारी कार्य (पुण्य) करने से पितृलोक की प्राप्ति होती है। इन्द्रिय-भोग के लिए इस जीवन में या मृत्यु के बाद अगले जीवन में अनेक प्रकार की व्यवस्थाएँ हैं। कुछ लोग मशीनों की व्यवस्था के द्वारा चन्द्रमा या अन्य लोकों तक पहुँचने का प्रयास कर रहे हैं, क्योंकि वे बिना पुण्य कार्य किये ही इन लोकों में पहुँचने के इच्छुक हैं। लेकिन ऐसा होने वाला नहीं है। परमेश्वर के नियम के अनुसार, विभिन्न कोटि के जीवों को उनके द्वारा किये गये कर्मों के अनुसार ही उन्हें विभिन्न लोकों की प्राप्ति हो सकती है। जैसाकि शास्त्रों में कहा गया है, केवल पुण्यकर्म से ही मनुष्य का जन्म अच्छे कुल में हो सकता है और उसे ऐश्वर्य, उत्तम शिक्षा तथा अच्छा स्वरूप प्राप्त हो सकता है। हम यह भी देखते हैं कि इस जन्म में भी उत्तम कर्म से ही मनुष्य को अच्छी शिक्षा या सम्पत्ति प्राप्त होती है। इसी प्रकार हमें उत्तम कर्म के द्वारा ही अगले जन्म में मनवांछित पद प्राप्त होते हैं। अन्यथा ऐसा न होता कि दो व्यक्ति एक ही समय तथा एक ही स्थान में उत्पन्न होकर भिन्न-भिन्न पद पाते हैं। यह पूर्व कर्म के कारण है। लेकिन ऐसे सारे भौतिक पद अस्थायी हैं। यहाँ तक कि सर्वोच्च ब्रह्मलोक तथा निम्नतम पाताल में भी ये पद हमारे कर्मों के अनुसार बदलते रहते हैं। दार्शनिक प्रवृत्ति वाले व्यक्ति को चाहिए कि ऐसे परिवर्तनशील पदों के लोभ में न आये। उसे आनन्द तथा ज्ञान का स्थायी जीवन प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए, जिससे उसे पुनः इस कष्टप्रद भौतिक जगत में या अन्य किसी लोक में फिर से न लौटना पड़े। दुख तथा मिश्रित सुख इस भौतिक जीवन के दो लक्षण हैं और ये दोनों ही ब्रह्मलोक तथा अन्य लोकों में भी पाये जाते हैं। ये देवताओं के जीवन में भी पाये जाते हैं और कूकर-सूकर के जीवन में भी। समस्त जीवों के दुखों तथा सुखों में गुण तथा परिमाण का अन्तर रहता है, लेकिन कोई ऐसा नहीं जो जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि से मुक्त हो। इसी प्रकार सबका सुख भी नियत है। कोई चाहे कितना प्रयास क्यों न करे, किसी को ये वस्तुएँ न तो कम न ही अधिक मिलेंगी। यदि मिल भी जायें, तो ये पुनः चली भी जायेंगी। अतएव मनुष्य को इन व्यर्थ की वस्तुओं में समय नहीं गँवाना चाहिए; उसे तो केवल भगवान् के पास वापस जाने के लिए प्रयास करना चाहिए। यही हर एक के जीवन का लक्ष्य होना चाहिए।

न वै जनो जातु कथञ्चनात्रजे-  
 न्मुकुन्दसेव्यन्यवदङ्ग संसृतिम् ।  
 स्मरन्मुकुन्दाङ्घ्र्युपगूहनं पुन-  
 विहातुमिच्छेन्न रसग्रहो जनः ॥ १९ ॥

### शब्दार्थ

न—कभी नहीं; वै—निश्चय ही; जनः—व्यक्ति; जातु—किसी समय; कथञ्चन—किसी तरह; आत्रजेत्—नहीं आता; मुकुन्द-सेवी—भगवान् का भक्त; अन्यवत्—अन्यों की तरह; अङ्ग—हे प्रिय; संसृतिम्—भौतिक जगत; स्मरन्—स्मरण करते हुए; मुकुन्द-अङ्घ्रि—भगवान् के चरणकमल; उपगूहनम्—घूमते हुए; पुनः—फिर; विहातुम्—त्यागने की इच्छा से; इच्छेत्—इच्छा; न—कभी नहीं; रस-ग्रहः—जिसने रसास्वादन किया है; जनः—व्यक्ति ।

हे प्रिय व्यास, यद्यपि भगवान् कृष्ण का भक्त भी कभी-कभी, किसी न किसी कारण से नीचे गिर जाता है, लेकिन उसे दूसरों ( सकाम कर्मियों आदि ) की तरह भव-चक्र में नहीं आना पड़ता, क्योंकि जिस व्यक्ति ने भगवान् के चरणकमलों का आस्वादन एक बार किया है, वह उस आनन्द को पुनः पुनः स्मरण करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सकता ।

तात्पर्य : भगवद्भक्त स्वतः संसार के सम्मोहन से विरत हो जाता है, क्योंकि वह रसग्रह होता है, अर्थात् वह भगवान् के चरणकमलों का आस्वादन कर चुका होता है । निश्चय ही, ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनमें भगवान् के भक्त कुसंगति के कारण नीचे गिरे हैं, मानो सकाम कर्मी हों, जिनका पतन सदैव होता रहता है । किन्तु नीचे गिरने पर भी भक्त को कभी कर्मी के समान पतित नहीं समझना चाहिए । कर्मी अपने कर्मों के फल को भोगता है, जबकि भक्त भगवान् द्वारा प्रताड़ित होने के कारण सुधर जाता है । एक अनाथ बालक तथा एक राजपुत्र के कष्ट एक-से नहीं होते । अनाथ वास्तव में दीन होता है, क्योंकि उसकी देखभाल करने वाला कोई नहीं होता, लेकिन एक धनवान का लाड़ला पुत्र, भले ही अनाथ-जैसा लगे, किन्तु वह सदैव अपने समर्थ पिता के संरक्षण में रहता है । भगवद्भक्त कभी-कभी कुसंगतिवश सकाम कर्मी की नकल करता है । सकाम कर्मी भौतिक जगत पर अपना प्रभुत्व जताना चाहता है । इसी प्रकार एक नवजिज्ञासु भक्त भी मूर्खतावश भक्तिमय सेवा के बदले कुछ भौतिक शक्ति संचित करने की सोचता है ।



कभी-कभी ऐसे मूर्ख भक्तों को स्वयं भगवान् कष्ट में डाल देते हैं। और यदि वे विशेष अनुग्रह करते हैं, तो उसका सारा भौतिक साज-सामान हर लेते हैं। ऐसी कार्यवाही से, व्यग्र हुए भक्त के सारे मित्र तथा कुटुम्बी उसका साथ छोड़ देते हैं और भगवान् की कृपा से उसे पुनः चेत जाता है और वह अपनी भक्ति सही ढंग से करने लगता है।

भगवद्गीता में यह भी कहा गया है कि ऐसे पतित भक्तों को किसी अत्यन्त विद्वान् ब्राह्मण कुल में या सम्पन्न वैश्य परिवार में जन्म लेने का अवसर दिया जाता है। ऐसी दशा में भक्त उतना भाग्यशाली नहीं होता जितना कि भगवान् द्वारा प्रताड़ित भक्त, जिसे एक तरह से असहायवस्था में रख दिया जाता है। जो भक्त भगवान् की इच्छा से असहाय बन जाता है, वह इन उत्तम कुलों में उत्पन्न भक्तों से अधिक भाग्यशाली होता है। उत्तम कुलों में उत्पन्न ये पतित भक्त कम भाग्यशाली होने के कारण भगवान् के चरणकमलों को भूल सकते हैं, लेकिन असहाय अवस्था को प्राप्त भक्त अधिक भाग्यशाली होता है, क्योंकि वह अपने को चारों ओर से असहाय पाकर भगवान् के चरणकमलों में तेजी से लौट आता है।

शुद्ध भक्ति मय सेवा आध्यात्मिक दृष्टि से इतनी आस्वादनीय है कि भक्त स्वतः भौतिक भोग के प्रति अन्यमनस्क हो जाता है। प्रगतिशील भक्ति की दिशा में यह पूर्णता का प्रतीक है। शुद्ध भक्त निरन्तर भगवान् कृष्ण के चरणकमलों को स्मरण में रखता है और उन्हें एक क्षण भी नहीं भुलाता, भले ही उसे तीनों लोकों का ऐश्वर्य क्यों न मिल जाये।

इदं हि विश्वं भगवानिवेतरो  
यतो जगत्स्थाननिरोधसम्भवाः ।  
तद्धि स्वयं वेद भवांस्तथापि ते  
प्रादेशमात्रं भवतः प्रदर्शितम् ॥ २० ॥

### शब्दार्थ

इदम्—यह; हि—सम्पूर्ण; विश्वम्—विश्व; भगवान्—भगवान्; इव—प्रायः वैसा ही; इतरः—ऊपर से भिन्न; यतः—जिससे; जगत्—संसार; स्थान—अवस्थित हैं; निरोध—संहार; सम्भवाः—उत्पत्ति; तत् हि—विषयक; स्वयम्—अपने आप; वेद—जानो; भवान्—आप; तथा अपि—फिर भी; ते—तुमको; प्रादेश-मात्रम्—मात्र सारांश; भवतः—तुमको; प्रदर्शितम्—बताया गया।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् स्वयं विश्व स्वरूप हैं तथापि उससे निर्लिप्त भी हैं। उन्हीं से यह दृश्य जगत उत्पन्न हुआ है, उन्हीं पर टिका है और संहार के बाद उन्हीं में प्रवेश करता है। तुम इस सबके विषय में जानते हो। मैंने तो केवल सारांश भर प्रस्तुत किया है।

**तात्पर्य :** शुद्ध भक्त के लिए मुकुन्द, भगवान् श्रीकृष्ण सम्बन्धी धारणा सगुण तथा निर्गुण दोनों ही होती है। व्यक्तित्वविहीन विश्व-स्थिति भी मुकुन्द है, क्योंकि यह मुकुन्द की शक्ति का ही प्राकट्य है। उदाहरणार्थ, वृक्ष अपने में पूर्ण इकाई है लेकिन पत्तियाँ तथा शाखाएँ वृक्ष से प्रकट हुए अंश (अंग) स्वरूप हैं। वृक्ष की पत्तियाँ तथा शाखाएँ भी वृक्ष हैं, लेकिन वृक्ष स्वयं न तो पत्तियाँ है, न शाखाएँ। वेदों का यह कथन है कि समस्त दृश्य जगत ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं है, यह बताता है कि चूँकि प्रत्येक वस्तु परमब्रह्म से उद्भूत है, अतएव उनसे भिन्न कुछ भी नहीं है। इसी प्रकार अंग के रूप में हाथ तथा पाँव शरीर कहलाते हैं, लेकिन पूर्ण इकाई के रूप में शरीर न तो हाथ है, न पाँव। भगवान् तो शाश्वतता, ज्ञान तथा सौंदर्य के दिव्य रूप हैं, अतएव भगवान् की शक्ति की सृष्टि भी अंशतः सच्चिदानन्द स्वरूप प्रतीत होती है। इसलिए बहिरंगा शक्ति, माया के प्रभाव से सारे बद्धजीव भौतिक प्रकृति के बन्धन में बँधे हुए हैं। वे इसे ही सब कुछ मान लेते हैं, क्योंकि उन्हें आदि कारण भगवान् का कोई ज्ञान नहीं होता। न ही उन्हें इसका पता रहता है कि शरीर के अंगों को यदि सम्पूर्ण शरीर से विलग कर दिया जाय, तो हाथ या पाँव वही हाथ पाँव नहीं रह जाते जैसे कि वे शरीर से संयुक्त होने पर थे। इसी प्रकार ईश्वर-विहीन सभ्यता, पूर्ण पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति से कट कर छिन्न हाथ या पाँव की तरह होती है। ऐसे अंग हाथ तथा पाँव जैसे भले ही लगें, लेकिन उनमें वह क्षमता नहीं रह जाती। भगवद्भक्त श्रील व्यासदेव इसे भलीभाँति जानते हैं। श्रील नारद उन्हें आगे इस विचार को पल्लवित करने की सलाह देते हैं जिससे बन्धन में फँसे हुए बद्धजीव उनसे शिक्षा ग्रहण करके भगवान् को आदि कारण के रूप में समझ सकें।

वैदिक मत के अनुसार, भगवान् स्वभावतः पूर्ण शक्तिमान हैं और इस प्रकार उनकी सर्वोपरि शक्तियाँ सदैव पूर्ण तथा उनसे अभिन्न होती हैं। आध्यात्मिक तथा भौतिक आकाश एवं इन दोनों

की सामग्रियाँ भगवान् की अन्तरंगा तथा बहिरंगा शक्तियों का प्राकट्य हैं। बहिरंगा शक्ति अपेक्षतया निकृष्ट है और अन्तरंगा शक्ति श्रेष्ठ है। श्रेष्ठ शक्ति (परा) जीवनी शक्ति है, अतएव यह पूर्ण रूप से अभिन्न है, लेकिन बहिरंगा शक्ति, निष्क्रिय होने के कारण अंशतः अभिन्न है। किन्तु ये दोनों ही शक्तियाँ न तो समस्त शक्तियों के जनक भगवान् के समान हैं, न उनसे बढ़कर हैं। ऐसी शक्तियाँ सदैव उनके अधीन होती हैं, जिस प्रकार कि विद्युत शक्ति, चाहे वह कितनी ही तेजोमय क्यों न हो, सदैव इंजीनियर के नियंत्रण में रहती है।

मनुष्य तथा अन्य सभी प्राणी उन्हीं भगवान् की अन्तरंगा शक्तियों से उत्पन्न हैं। इस प्रकार जीव भी भगवान् से अभिन्न है। किन्तु वह कभी भी न तो भगवान् के तुल्य है और न उनसे श्रेष्ठ। भगवान् तथा सारे जीव व्यष्टि व्यक्ति हैं। भौतिक शक्तियों के द्वारा जीव भी कुछ न कुछ सृजन करते रहते हैं, किन्तु उनकी कोई भी सृष्टि न तो भगवान् की सृष्टियों के समान होती है, न उनसे बढ़कर। मनुष्य एक छोटा-सा खिलौना-जैसा स्पुतनिक बनाकर बाह्य आकाश में प्रक्षेपित कर सकता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता है कि वह पृथ्वी या चन्द्रमा जैसा ग्रह बनाकर भगवान् की भाँति उसे वायु में तैरा सकता है। अल्पज्ञ लोग अपने को भगवान् के समान बताते हैं, लेकिन वे कभी भी भगवान् के तुल्य नहीं हो सकते हैं और न कभी होंगे। मनुष्य, पूर्ण सिद्धि प्राप्त करने के बाद, भगवान् के गुणों का एक बहुत बड़ा प्रतिशत (७८ प्रतिशत) प्राप्त कर सकता है, तो भी भगवान् से आगे बढ़ पाना या उनके तुल्य हो पाना असम्भव है। केवल रुग्ण दशा में ही मूर्ख व्यक्ति भगवान् से एक होने का दावा करता है और इस तरह वह माया द्वारा भ्रमित होता रहता है। अतएव भ्रमित जीव को भगवान् की श्रेष्ठता स्वीकार करनी चाहिए और उनकी प्रेममय सेवा करने के लिए तैयार रहना चाहिए। जीवों की उत्पत्ति ही इसीलिए हुई है। इसके बिना विश्व में किसी प्रकार की शान्ति या सौहार्द नहीं आ सकता। श्रील नारद श्रील व्यासदेव को *भागवत* में इस विचार को विस्तार देने का उपदेश देते हैं। *भगवद्गीता* में भी इसी विचार की व्याख्या की गई है कि भगवान् के चरणकमलों में पूर्ण रूप से समर्पित हो जाओ। पूर्ण मानव का यही एकमात्र कार्य है।

त्वमात्मनात्मानमवेह्यमोघदृक्  
 परस्य पुंसः परमात्मनः कलाम् ।  
 अजं प्रजातं जगतः शिवाय त-  
 न्महानुभावाभ्युदयोऽधिगण्यताम् ॥ २१ ॥

### शब्दार्थ

त्वम्—तुम; आत्मना—अपने आप से; आत्मानम्—भगवान् को; अवेहि—ढूँढो; अमोघ-दृक्—पूर्ण दृष्टि वाला; परस्य—अध्यात्म का; पुंसः—भगवान्; परमात्मनः—परमात्मा का; कलाम्—अंश; अजम्—अजन्मा; प्रजातम्—जन्म लिया गया; जगतः—संसार के; शिवाय—कल्याण के लिए; तत्—उस; महा-अनुभाव—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण की; अभ्युदयः—लीलाएँ; अधिगण्य-ताम्—विस्तार से बताओ।

तुममें पूर्ण दृष्टि है। तुम पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को जान सकते हो, क्योंकि तुम भगवान् के अंश के रूप में विद्यमान हो। यद्यपि तुम अजन्मा हो, लेकिन समस्त लोगों के कल्याण हेतु इस पृथ्वी पर प्रकट हुए हो। अतः भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाओं का अधिक विस्तार से वर्णन करो।

तात्पर्य : श्रील व्यासदेव भगवान् श्रीकृष्ण के शक्त्यावेश अवतार हैं। वे भौतिक जगत के पतित जीवों के उद्धार हेतु अपनी अहेतुकी कृपावश अवतरित हुए। पतित तथा विस्मृत जीव भगवान् की दिव्य प्रेममयी सेवा से विच्छिन्न रहते हैं। सारे जीव भगवान् के अंश हैं और उन के सनातन सेवक हैं। अतएव सारा वैदिक साहित्य इन्हीं पतित जीवों के लाभ हेतु कर्मबद्ध किया गया है। पतित जीवों का यह कर्तव्य है कि ऐसे साहित्य का लाभ उठाएँ और भव-बन्धन से अपने को मुक्त करें। यद्यपि श्रील नारद ऋषि श्रील व्यासदेव के औपचारिक गुरु हैं, लेकिन श्रील व्यासदेव गुरु पर निर्भर नहीं हैं, क्योंकि वे मूल रूप से अन्य सबों के गुरु हैं। चूँकि वे आचार्य का कार्य कर रहे हैं, अतः उन्होंने अपने आचरण से लोगों को यह प्रदर्शित किया है कि मनुष्य को गुरु बनाना चाहिए, भले ही वह साक्षात् ईश्वर ही क्यों न हो। भगवान् श्रीकृष्ण, भगवान् श्रीराम तथा भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु, सभी ने परमेश्वर के अवतार होते हुए भी औपचारिक गुरु स्वीकार किये, यद्यपि अपने दिव्य स्वभाव के कारण वे समस्त ज्ञान के आगार थे। सामान्य जनता

को भगवान् श्रीकृष्ण के चरणाकमलों का दिशा-निर्देश करने के लिए वे स्वयं, व्यासदेव के अवतार के रूप में, भगवान् की दिव्य लीलाओं का उद्घाटन कर रहे हैं।

इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा  
स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः ।  
अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो  
यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनम् ॥ २२ ॥

### शब्दार्थ

इदम्—यह; हि—निश्चय ही; पुंसः—प्रत्येक व्यक्ति का; तपसः—तपस्या के द्वारा; श्रुतस्य—वेदों के अध्ययन से; वा—अथवा; स्विष्टस्य—यज्ञ का; सूक्तस्य—आध्यात्मिक शिक्षा का; च—तथा; बुद्धि—ज्ञान का अनुशीलन; दत्तयोः—दान; अविच्युतः—अचूक; अर्थः—प्रयोजन; कविभिः—मान्य विद्वान् द्वारा; निरूपितः—निष्कर्ष रूप में प्राप्त किया गया, वर्णित; यत्—जो; उत्तमश्लोक—भगवान् जिनका वर्णन चुने हुए श्लोकों ( पद्य ) से किया जाता है; गुण-अनुवर्णनम्—दिव्य गुणों का वर्णन।

विद्वन्मण्डली ने यह स्पष्ट निष्कर्ष निकाला है कि तपस्या, वेदाध्ययन, यज्ञ, दान तथा स्तुति-जप का अचूक प्रयोजन ( उद्देश्य ) उत्तमश्लोक भगवान् की दिव्य लीलाओं के वर्णन में जाकर समाप्त होता है।

तात्पर्य : मनुष्य के मस्तिष्क का विकास कला, विज्ञान, दर्शन, भौतिकी, रसायन, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र, राजनीति आदि के ज्ञान की उन्नति के लिए हुआ है। ऐसे ज्ञान के अनुशीलन द्वारा मानव-समाज को जीवन की पूर्णता प्राप्त हो सकती है। जीवन की इस पूर्णता का अन्त परम पुरुष विष्णु की प्राप्ति में होता है। अतः श्रुति का निर्देश है कि जो वास्तविक रूप में ज्ञान में बढ़े-चढ़े हैं, उन्हें भगवान् विष्णु की सेवा की आकांक्षा करनी चाहिए। दुर्भाग्यवश जो लोग विष्णु-माया के बाह्य सौंदर्य से मुग्ध हो गए हैं, वे यह नहीं समझ पाते हैं कि पूर्णता या आत्म-साक्षात्कार की चरम परिणति विष्णु पर निर्भर करती है। विष्णु-माया का अर्थ है इन्द्रिय-भोग, जो क्षणिक तथा दुःखमय है। जो लोग विष्णु-माया के चंगुल में फंसे हुए हैं, वे ज्ञान की उन्नति का उपयोग इन्द्रिय-भोग के लिए करते हैं। श्री नारद मुनि ने बताया है कि विराट ब्रह्माण्ड की सारी सामग्री ( साज-समान ) भगवान् की विभिन्न शक्तियों का प्राकट्य मात्र है, क्योंकि उन्होंने अपनी अकल्पनीय शक्ति के द्वारा सृजित जगत् की क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं को गति प्रदान की है।

वे उन्हीं की शक्ति से उद्भूत हैं, उनकी शक्ति पर आधारित हैं और प्रलय के बाद उन्हीं में लीन हो जाती हैं। अतएव उनसे भिन्न कुछ भी नहीं है, किन्तु साथ ही वे सदैव उनसे भिन्न रहते हैं।

जब ज्ञान की उन्नति का सदुपयोग भगवान् की सेवा के लिए किया जाता है, तो सारी प्रक्रिया परिपूर्ण बन जाती है। भगवान् तथा उनका दिव्य नाम, यश, महिमा इत्यादि सभी कुछ उनसे अभिन्न हैं, अतएव समस्त मुनियों तथा भगवद्भक्तों ने संस्तुति की है कि कला, विज्ञान, दर्शन, भौतिकी, रसायन, मनोविज्ञान तथा ज्ञान की अन्य शाखाओं का उपयोग पूर्ण रूप से तथा एकान्तिक भाव में भगवान् की सेवा के लिए किया जाय। कला, साहित्य, पद्य, चित्रकला आदि का उपयोग भगवान् के यशोगान में किया जा सकता है। उपन्यासकार, कवि तथा विख्यात साहित्यकार सामान्य रूप से कामुक विषयों के लेखन में लगे रहते हैं, किन्तु यदि वे भगवान् की सेवा में लग जायें तो वे भगवान् की दिव्य लीलाओं का वर्णन कर सकते हैं। वाल्मीकि एक महान कवि थे और उसी प्रकार व्यासदेव एक महान लेखक हैं और ये दोनों ही भगवान् की लीलाओं का उद्घाटन करने में लगे रहे और इसी कारण वे अमर हो गये हैं। इसी प्रकार विज्ञान तथा दर्शन का उपयोग भी भगवान् की सेवा के लिए किया जाना चाहिए। इन्द्रियतृप्ति के लिए कोरे सिद्धान्त प्रस्तुत करते रहने से कोई लाभ नहीं है। दर्शन तथा विज्ञान को भगवान् की महिमा को प्रस्थापित करने में प्रयुक्त किया जाना चाहिए। समुन्नत लोग विज्ञान के माध्यम से परम सत्य को जानने के लिए उत्सुक होते हैं, अतएव महान वैज्ञानिक का यह कर्तव्य है कि वैज्ञानिक आधार पर भगवान् के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए प्रयास करे। इसी प्रकार दार्शनिक चिन्तनों का उपयोग परम सत्य को संवेदना-युक्त तथा सर्वशक्तिमान के रूप में स्थापित करने में किया जाना चाहिए। इसी प्रकार से ज्ञान की अन्य समस्त शाखाओं का उपयोग सदा भगवान् की सेवा के लिए किया जाना चाहिए। *भगवद्गीता* में भी इसकी पुष्टि की गई है। वह सारा “ज्ञान” अज्ञान के अतिरिक्त कुछ नहीं है, यदि उसे भगवान् की सेवा में न लगाया जाय। उन्नत ज्ञान का वास्तविक सदुपयोग भगवान् की महिमा को स्थापित करना है और यही वास्तविक लक्ष्य है। भगवान् की

सेवा में लगा हुआ सारा वैज्ञानिक ज्ञान तथा इसी प्रकार के सारे कार्यकलाप वास्तव में हरि कीर्तन अर्थात् भगवान् की महिमा का गायन है।

अहं पुरातीतभवेऽभवं मुने  
दास्यास्तु कस्याश्चन वेदवादिनाम् ।  
निरूपितो बालक एव योगिनां  
शुश्रूषणे प्रावृषि निर्विविक्षताम् ॥ २३ ॥

### शब्दार्थ

अहम्—मैं; पुरा—प्राचीन काल में, पहले; अतीत-भवे—पूर्व कल्प में; अभवम्—हो गया; मुने—हे मुनि; दास्याः—दासी का; तु—लेकिन; कस्याश्चन—किसी; वेद-वादिनाम्—वेदान्त के अनुयायियों का; निरूपितः—लगा हुआ; बालकः—छोटा नौकर; एव—केवल; योगिनाम्—भक्तों की; शुश्रूषणे—सेवा में; प्रावृषि—वर्षा ऋतु के चार मासों में; निर्विविक्षताम्—साथ रहते हुए।

हे मुनि, पिछले कल्प में मैं किसी दासी के पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ, जो वेदान्त सिद्धान्तों के अनुयायी ब्राह्मणों की सेवा करती थी। जब वे लोग वर्षा ऋतु के चातुर्मास में साथ-साथ रहते थे, तो मैं उनकी सेवा टहल ( व्यक्तिगत सेवा ) किया करता था।

तात्पर्य : श्री नारद मुनि ने यहाँ पर भगवान् की भक्ति से सिक्त वातावरण की अद्भुतता का संक्षिप्त वर्णन किया है। वे एक अत्यन्त महत्त्वहीन माता-पिता की सन्तान थे। उनकी शिक्षा ठीक से नहीं हुई थी। तो भी उनकी समस्त शक्ति भगवान् की सेवा में संलग्न रहने के कारण वे अमर मुनि बन गये। ऐसी होती है भक्तिमय सेवा की शक्ति। सारे जीवात्मा भगवान् की तटस्था शक्ति हैं, अतएव उनकी सार्थकता भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति करने में है। जब ऐसा नहीं हो पाता, तो मनुष्य की वह स्थिति माया कहलाती हैं। अतएव ज्योंही मनुष्य अपनी पूरी शक्ति को इन्द्रिय-भोग में न लगाकर भगवान् की सेवा में लगाता है, तो माया का सारा भ्रम दूर हो जाता है। श्री नारदमुनि के पूर्वजन्म के निजी उदाहरण से यह स्पष्ट है कि भगवान् की सेवा भगवान् के प्रामाणिक सेवकों की सेवा से ही प्रारम्भ होती है। भगवान् कहते हैं कि मेरे दासों की सेवा मेरी निजी सेवा से बढ़कर है। भक्त की सेवा भगवान् की सेवा से अधिक मूल्यवान है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि भगवान् की सेवा में निरन्तर रत रहने वाले भगवान् के किसी प्रामाणिक सेवक को चुने, उसे

अपना गुरु बनाए और उस गुरु की सेवा में अपने को लगाए। ऐसा गुरु एक पारदर्शी माध्यम है, जिससे उन भगवान् का दर्शन किया जा सकता है, जो भौतिक इन्द्रियों के बोध से परे हैं। प्रामाणिक गुरु की सेवा के अनुपात से ही भगवान् उसे अपनी अनुभूति कराते हैं। भगवान् की सेवा में मानव-शक्ति का सदुपयोग मुक्ति का प्रगतिशील पथ है। प्रामाणिक गुरु के मार्गदर्शन में भगवान् की सेवा करने पर, सारी विराट सृष्टि तुरन्त भगवान् से अभिन्न बन जाती है। सक्षम गुरु को वह कला ज्ञात रहती है, जिससे प्रत्येक वस्तु का उपयोग भगवान् के यशोगान के लिए किया जा सकता है, अतः उनके मार्गदर्शन से भगवान् के सेवक की दिव्य कृपा से सारे जगत को वैकुण्ठ धाम में परिणत किया जा सकता है।

ते मय्यपेताखिलचापलेऽर्भके  
दान्तेऽधृतक्रीडनकेऽनुवर्तिनि ।  
चक्रुः कृपां यद्यपि तुल्यदर्शनाः  
शुश्रूषमाणे मुनयोऽल्पभाषिणि ॥ २४ ॥

### शब्दार्थ

ते—वे; मयि—मुझ में; अपेत—न भोगकर; अखिल—सभी प्रकार की; चापले—रुचियाँ; अर्भके—बालक में; दान्ते—इन्द्रियों को वश में करके; अधृत-क्रीडनके—खेल-कूद की आदतों में अभ्यस्त न होकर; अनुवर्तिनि—आज्ञाकारी; चक्रुः—प्रदान किया; कृपाम्—अहैतुकी कृपा; यद्यपि—यद्यपि; तुल्य-दर्शनाः—स्वभाव से निष्पक्ष; शुश्रूषमाणे—श्रद्धावान के प्रति; मुनयः—वेदान्त के अनुयायी मुनिगण; अल्प-भाषिणि—मितभाषी, कम बोलने वाले।

यद्यपि वे स्वभाव से निष्पक्ष थे, किन्तु उन वेदान्त के अनुयायियों ने मुझ पर अहैतुकी कृपा की। जहाँ तक मेरी बात थी, मैं इन्द्रियजित था और बालक होने पर भी खेलकूद से अनासक्त था। साथ ही, मैं चपल न था और कभी भी जरूरत से ज्यादा बोलता नहीं था ( मितभाषी था )।

तात्पर्य : भगवद्गीता में भगवान् कहते हैं, “सारे वेद मेरी खोज कर रहे हैं।” भगवान् श्री चैतन्य का कहना है कि वेदों के केवल तीन विषय हैं—भगवान् के साथ जीवों का सम्बन्ध स्थापित करना, भक्ति कर्म करना तथा इस प्रकार से भगवद्धाम जाने का परम उद्देश्य प्राप्त करना। इस तरह इन वेदान्तवादियों से भगवान् के शुद्ध भक्त के संकेत मिलते हैं। ऐसे वेदान्तवादी या



भक्तिवेदान्त भक्ति के दिव्य ज्ञान का वितरण निष्पक्ष भाव से करते हैं। उनके लिए न कोई मित्र है और न कोई शत्रु; न कोई शिक्षित है और न अशिक्षित; न कोई विशेष रूप से अनुकूल है और न कोई प्रतिकूल। भक्तिवेदान्तीजन यह देखते हैं कि लोग सामान्य रूप से झूठी कामोद्दीपक वस्तुओं में अपना समय गँवाते हैं। उनका कार्य है अज्ञानी जनता के भगवान् के साथ भूले हुए सम्बन्ध को पुनः स्थापित कराना। ऐसे प्रयास से विस्मृत से विस्मृत जीव को भी आध्यात्मिक जीवन का बोध हो जाता है और इस प्रकार भक्तिवेदान्तों द्वारा प्रेरित सामान्य लोग धीरे-धीरे दिव्य अनुभूति के पथ पर अग्रसर होने लगते हैं। इस प्रकार वेदान्त-वादियों ने उस बालक को इन्द्रियजित बनने के पूर्व ही दीक्षित कर लिया था और वह बचपन के खेलकूद से विरक्त हो गया था। किन्तु दीक्षा के पूर्व वह बालक अत्यधिक अनुशासित हो चुका था, क्योंकि इस मार्ग पर चलने वाले के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है। मानव-जीवन के वास्तविक शुभारम्भ के समय से वर्णाश्रम धर्म प्रणाली में बालकों को पाँच वर्ष की आयु के बाद गुरु आश्रम में ब्रह्मचारी बनने के लिए भेजा जाता है, जहाँ उन्हें ये सारी चीजें नियमित ढंग से सिखाई जाती हैं, चाहे वे सामान्य नागरिकों के पुत्र हों या राजकुमार हों। यह प्रशिक्षण न केवल राज्य में अच्छे नागरिक उत्पन्न करने के निमित्त भी अनिवार्य था, अपितु बालक को भावी जीवन में आध्यात्मिक अनुभूति प्राप्त करने के लिए उसे तैयार करने के लिए भी अनिवार्य था। वर्णाश्रम प्रणाली का पालन करने वाले बालकों को इन्द्रिय-भोग के अनुत्तरदायी जीवन का पता ही नहीं रहता था। यहाँ तक कि जब पिता बालक को माता के गर्भ में स्थापित करता था, तो वह भी आध्यात्मिक संस्कार द्वारा होता था। बालक को भव-बन्धन से मुक्त कराकर उसे सफलता दिलाना माता-पिता का उत्तरदायित्व हुआ करता था। यही सफल परिवार नियोजन की विधि है। इसका उद्देश्य था पूर्ण सफलता के लिए सन्तान उत्पन्न करना। इन्द्रियजित हुए बिना, अनुशासित हुए बिना तथा पूर्ण रूप से आज्ञाकारी हुए बिना कोई भी व्यक्ति गुरु के उपदेशों का पालन करने में सफल नहीं हो सकता और ऐसा किये बिना कोई भी व्यक्ति भगवान् के धाम को प्राप्त नहीं कर सकता।

उच्छिष्टलेपाननुमोदितो द्विजैः  
 सकृत्स्म भुञ्जे तदपास्तकिल्बिषः ।  
 एवं प्रवृत्तस्य विशुद्धचेतस-  
 स्तद्धर्म एवात्मरुचिः प्रजायते ॥ २५ ॥

### शब्दार्थ

उच्छिष्ट-लेपान्—जूठन; अनुमोदितः—अनुमति से; द्विजैः—वेदान्ती ब्राह्मणों द्वारा; सकृत्—एक बार; स्म—था; भुञ्जे—ग्रहण किया; तत्—उस कार्य से; अपास्त—नष्ट हो गये; किल्बिषः—सारे पाप; एवम्—इस प्रकार; प्रवृत्तस्य—लगे हुए; विशुद्ध-चेतसः—शुद्ध चित्त वाले का; तत्—वह विशेष; धर्मः—स्वभाव; एव—निश्चय ही; आत्म-रुचिः—दिव्य आकर्षण; प्रजायते—प्रकट हुआ।

उनकी अनुमति से मैं केवल एक बार उनकी जूठन खाता था और ऐसा करने से मेरे सारे पाप तुरन्त ही नष्ट हो गये। इस प्रकार सेवा में लगे रहने से मेरा हृदय शुद्ध हो गया और तब वेदान्तियों का स्वभाव मेरे लिए अत्यन्त आकर्षक बन गया।

तात्पर्य : शुद्ध भक्ति संक्रामक रोग तुल्य है, किन्तु वह शुद्ध भाव में संक्रामक है। शुद्ध भक्त समस्त प्रकार के पापों से निर्मल हो जाता है। भगवान् विशुद्धतम सत्ता हैं और जब तक कोई भौतिक गुणों की संक्रामकता के द्वारा उन्हीं के समान शुद्ध न हो ले, तब तक वह भगवान् का शुद्ध भक्त नहीं बन सकता। जैसाकि पहले कहा जा चुका है, भक्तिवेदान्तजन शुद्ध भक्त थे और यह बालक उनकी संगति से तथा एक बार उनका जूठन खाने से उनके गुणों से अभिभूत हो गया। ऐसी जूठन शुद्ध भक्तों की अनुमति के बिना भी ग्रहण की जा सकती है। लेकिन कभी-कभी छद्म भक्त भी होते हैं, अतः उनसे अत्यन्त सावधान रहने की आवश्यकता है। ऐसी अनेक बातें हैं, जो भक्ति करने में बाधक होती हैं। किन्तु शुद्ध भक्तों की संगति से ऐसे सारे अवरोध दूर हो जाते हैं। नवदीक्षित भक्त शुद्ध भक्त के दिव्य गुणों से लगभग पूरित हो जाता है, जिसका अर्थ है भगवान् के नाम, यश, गुण, लीला आदि के प्रति आकर्षण। शुद्ध भक्त के गुणों की संक्रामकता का अर्थ है भगवान् की दिव्य लीलाओं के प्रति शुद्ध भक्ति की रुचि उत्पन्न करना। इस दिव्य रुचि के आगे सारी भौतिक वस्तुओं के प्रति कुरुचि उत्पन्न हो जाती है। अतः शुद्ध भक्त कभी भी भौतिक कार्यकलापों के प्रति आकर्षित नहीं होता। भक्ति के पथ के सारे अवरोधों या समस्त पापों के दूर होने पर ही मनुष्य ईश्वर के प्रति आसक्त हो सकता है, उसमें दृढ़ता आ सकती है, उसमें पूर्ण रुचि

उत्पन्न हो सकती है, उसमें दिव्य अनुभूतियाँ आ सकती हैं और अन्त में वह भगवान् की प्रेममय सेवा के घरातल पर स्थित हो सकता है। ये सारी अवस्थाएँ शुद्ध भक्तों की संगति से ही विकसित होती हैं और यही इस श्लोक का तात्पर्य है।

तत्रान्वहं कृष्णकथाः प्रगायता-

मनुग्रहेणाशृणवं मनोहराः ।

ताः श्रद्धया मेऽनुपदं विशृण्वतः

प्रियश्रवस्यङ्ग ममाभवद्रुचिः ॥ २६ ॥

### शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; अनु—प्रतिदिन; अहम्—मैं; कृष्ण-कथाः—कृष्ण के कार्यकलापों का वर्णन; प्रगायताम्—गायन करते हुए; अनुग्रहेण—अहैतुकी कृपावश; अशृणवम्—सुनते हुए; मनः-हराः—आकर्षक; ताः—वे; श्रद्धया—आदरपूर्वक; मे—मेरा; अनुपदम्—प्रत्येक पग पर; विशृण्वतः—ध्यान से सुनते हुए; प्रियश्रवसि—भगवान् का; अङ्ग—हे व्यासदेव; मम—मेरा; अभवत्—ऐसी बन गई; रुचिः—प्रवृत्ति।

हे व्यासदेव, उस संगति में तथा उन महान् वेदान्तियों की कृपा से, मैं उनके द्वारा भगवान् कृष्ण की मनोहर लीलाओं का वर्णन सुन सका और इस प्रकार ध्यानपूर्वक सुनते रहने से भगवान् के विषय में प्रतिक्षण अधिकाधिक सुनने के प्रति मेरी रुचि बढ़तीही गई।

तात्पर्य : परम पुरुष भगवान् श्रीकृष्ण न केवल अपने व्यक्तिगत लक्षणों के कारण आकर्षक हैं, अपितु अपने दिव्य कार्यकलापों के कारण भी हैं। इसका कारण यह है कि वे परम पुरुष अपने नाम, यश, रूप, लीलाओं, पार्षदों, साज-सामग्री इत्यादि के कारण निरपेक्ष अवस्था में हैं। भगवान् अपनी अहैतुकी कृपावश इस भौतिक जगत में अवतरित होते हैं और मनुष्य रूप में अपनी विविध दिव्य लीलाओं का प्रदर्शन करते हैं, जिससे सब मनुष्य उनके प्रति आकृष्ट होकर भगवद्धाम वापस जा सकें। मनुष्य स्वभाव से लौकिक कार्यकलाप करने वाले विभिन्न पुरुषों के इतिहास तथा उनकी कथाएँ सुनने का इच्छुक रहता है, किन्तु उसे इसका ज्ञान नहीं रहता कि ऐसी संगति मात्र समय का अपव्यय है और इससे वह प्रकृति के तीनों गुणों से आसक्त होता जाता है। समय गँवाने की अपेक्षा भगवान् की दिव्य लीलाओं के प्रति ध्यान देने से उसे आध्यात्मिक लाभ हो सकता है।

भगवान् की लीलाओं की कथा सुनने से उसे भगवान् का प्रत्यक्ष सात्रिध्य प्राप्त होता है और जैसाकि पहले कहा जा चुका है, भगवान् के विषय में श्रवण करने से अन्तःकरण के सारे पाप धुल जाते हैं। इस प्रकार से पापों के धुल जाने पर श्रोता धीरे-धीरे सांसारिक संगति से मुक्त होकर भगवान् के स्वरूप के प्रति आकृष्ट होता है। नारद मुनि ने अपने निजी अनुभव के आधार पर ही इसकी व्याख्या की है। कहने का आशय यह है कि भगवान् की लीलाओं के श्रवण मात्र से मनुष्य भगवान् का पार्षद बन सकता है। नारद मुनि का जीवन शाश्वत है, उनका ज्ञान असीम तथा आनन्द अगाध है और वे बिना किसी बाधा के भौतिक तथा आध्यात्मिक जगत् में विचरण कर सकते हैं। मनुष्य सही व्यक्ति से भगवान् की दिव्य लीलाओं का श्रवण करके ही जीवन की परम पूर्णता प्राप्त कर सकता है, जिस प्रकार श्री नारद ने अपने पूर्वजन्म में शुद्ध भक्तों (भक्तिवेदान्तों) से सुनकर प्राप्त की। भक्तों की संगति में रह कर श्रवण करने की यह विधि इस कलह-प्रधान (कलि) युग के लिए विशेष रूप से संस्तुत की गई है।

तस्मिस्तदा लब्धरुचेर्महामते  
 प्रियश्रवस्यस्खलिता मतिर्मम ।  
 ययाहमेतत्सदसत्स्वमायया  
 पश्ये मयि ब्रह्मणि कल्पितं परे ॥ २७ ॥

### शब्दार्थ

तस्मिन्—ऐसा होने पर; तदा—उस समय; लब्ध—प्राप्त; रुचेः—रुचि; महा-मते—हे महामुनि; प्रियश्रवसि—भगवान् पर; अस्खलिता मतिः—अनवरत ध्यान; मम—मेरा; यया—जिससे; अहम्—मैं; एतत्—ये सब; सत्-असत्—स्थूल तथा सूक्ष्म; स्व-मायया—अपने ही अज्ञान से; पश्ये—देखता हूँ; मयि—मुझमें; ब्रह्मणि—सर्वोपरि; कल्पितम्—स्वीकार किया जाता है; परे—अध्यात्म में।

हे महामुनि, ज्योंही मुझे भगवान् का आस्वाद प्राप्त हुआ, त्योंही मेरा ध्यान भगवान् का श्रवण करने के प्रति अटल हो गया। और ज्योंही मेरी रुचि विकसित हो गई, त्योंही मुझे अनुभव हुआ कि मैंने अज्ञानतावश ही स्थूल तथा सूक्ष्म आवरणों को स्वीकार किया है, क्योंकि भगवान् तथा मैं दोनों ही दिव्य हैं।

**तात्पर्य :** भौतिक जगत में अज्ञानता की तुलना अंधकार से की जाती है और समस्त वैदिक साहित्य में भगवान् की तुलना सूर्य से की गई है। जहाँ कहीं प्रकाश होता है, वहाँ अंधकार नहीं रह पाता। भगवान् की लीलाओं का श्रवण स्वयं ही भगवान् की दिव्य संगति है, क्योंकि भगवान् तथा उनकी लीलाओं में कोई अन्तर नहीं होता। परम प्रकाश की संगति प्राप्त करने का अर्थ होगा सारे अज्ञान को भगाना। केवल अज्ञानवश ही बद्ध जीव झूठे ही यह सोचता है कि वह तथा भगवान् दोनों ही भौतिक प्रकृति से उत्पन्न हैं। लेकिन वास्तव में भगवान् तथा जीव दोनों दिव्य हैं और उन्हें भौतिक प्रकृति से कुछ लेना-देना नहीं होता। जब अज्ञान दूर हो जाता है और यह अनुभव किया जाता है कि भगवान् के बिना किसी भी चीज का अस्तित्व नहीं है, तब अविद्या हट जाती है। चूँकि स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर भगवान् से ही उद्भूत हैं, अतएव प्रकाश का ज्ञान होते ही इन दोनों शरीरों को भगवान् की सेवा में प्रवृत्त किया जा सकता है। स्थूल शरीर को भगवान् की सेवा करने में (यथा जल लाने, मन्दिर बुहारने या नमस्कार करने आदि में) लगाना चाहिए। अर्चना में अर्थात् मन्दिर में भगवान् की पूजा करने में इस स्थूल शरीर का उपयोग भगवान् की सेवा करने में होता है। इसी प्रकार, सूक्ष्म मन को भगवान् की दिव्य लीलाओं के श्रवण, उनके चिन्तन, भगवान् के नाम के कीर्तन में लगाना चाहिए आदि। ऐसे सारे कार्य दिव्य हैं। इनके अतिरिक्त अन्य किसी भी कार्य में स्थूल या सूक्ष्म इन्द्रियों को प्रवृत्त नहीं करना चाहिए। दिव्य कार्यों की ऐसी अनुभूति अनेकानेक वर्षों तक भक्ति में रहकर सेवा करने से प्राप्त हो पाती है, लेकिन श्रवण के द्वारा नारद मुनि में जिस प्रकार से भगवान् के प्रति प्रेमाकर्षण उत्पन्न हुआ, वह अत्यन्त प्रभावशाली होता है।

इत्थं शरत्प्रावृषिकावृतू हरे-

विश्रृण्वतो मेऽनुसवं यशोऽमलम् ।

सङ्कीर्त्यमानं मुनिभिर्महात्मभि-

र्भक्तिः प्रवृत्तात्परजस्तमोपहा ॥ २८ ॥

## शब्दार्थ

इत्थम्—इस प्रकार; शरत्—शरद् ऋतु; प्रावृषिकौ—वर्षा ऋतु; ऋतू—दो ऋतुएँ; हरेः—भगवान् का; विशृण्वतः—निरन्तर श्रवण करते हुए; मे—मैं स्वयं; अनुसवम्—निरन्तर; यशः अमलम्—धवल कीर्ति; सङ्कीर्त्यमानम्—जपी जाकर; मुनिभिः—मुनियों द्वारा; महा-आत्मभिः—महात्माओं द्वारा; भक्तिः—भक्तिमय सेवा; प्रवृत्ता—प्रवाहित होने लगी; आत्म—जीव; रजः—रजोगुण; तम—तमोगुण; उपहा—नाश करने वाली ।

इस प्रकार वर्षा तथा शरद् दोनों ऋतुओं में, मुझे इन महामुनियों से भगवान् हरि की धवल कीर्ति का निरन्तर कीर्तन सुनते रहने का सुअवसर प्राप्त हुआ। ज्योंही मेरी भक्ति का प्रवाह होने लगा कि रजोगुण तथा तमोगुण के सारे आवरण विलुप्त हो गये।

तात्पर्य : परमेश्वर की दिव्य भक्तिमय सेवा प्रत्येक जीव की सहज प्रवृत्ति होती है। यह प्रवृत्ति प्रत्येक प्राणी में सु-सुप्त रहती है, लेकिन भौतिक प्रकृति के सम्पर्क के कारण रजोगुण तथा तमोगुण अनन्त काल से इसे आच्छादित करते रहे हैं। यदि भगवान् तथा उनके महान भक्तों के अनुग्रह से कोई जीव इतना भाग्यशाली होता है कि उसे विशुद्ध भक्तों की संगति प्राप्त हो जाय और भगवान् के निर्मल महिमा गान को सुनने का अवसर मिल जाय, तो निश्चय ही भक्ति का प्रवाह नदी के प्रवाह की ही तरह होने लगता है। जिस प्रकार नदी तब तक प्रवाहित होती रहती है, जब तक वह समुद्र तक न पहुँच जाय, उसी प्रकार शुद्ध भक्तों की संगति से विशुद्ध भक्ति की धारा तब तक प्रवाहित होती रहती है जब तक वह चरम लक्ष्य अर्थात् भगवान् के दिव्य प्रेम तक नहीं पहुँच जाती। भक्ति का ऐसा प्रवाह रोके नहीं रुकता, अपितु यह असीमित रूप से अधिकाधिक बढ़ता जाता है। भक्ति का प्रवाह इतना सक्षम होता है कि कोई दर्शक भी रजोगुण तथा तमोगुण के प्रभाव से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार प्रकृति के ये दोनों गुण दूर हो जाते हैं और जीव अपनी मूल स्थिति को प्राप्त करके मुक्त हो जाता है।

तस्यैवं मेऽनुरक्तस्य प्रश्रितस्य हतैनसः ।

श्रद्धानस्य बालस्य दान्तस्यानुचरस्य च ॥ २९ ॥

## शब्दार्थ

तस्य—उसका; एवम्—इस प्रकार; मे—मेरा; अनुरक्तस्य—उससे आसक्त; प्रश्रितस्य—आज्ञाकारी का; हत—मुक्त; एनसः—पापों से; श्रद्धानस्य—श्रद्धावान्; बालस्य—बालक का; दान्तस्य—संयमी का; अनुचरस्य—उपदेशों का दृढ़ता से पालन करने वाले का; च—तथा ।

मैं उन मुनियों के प्रति अत्यधिक आसक्त था। मेरा आचरण विनम्र था और उनकी सेवा के कारण मेरे सारे पाप विनष्ट हो चुके थे। मेरे हृदय में उनके प्रति प्रबल श्रद्धा थी। मैंने इन्द्रियों को वश में कर लिया था और मैं तन तथा मन से उनका दृढ़ता से अनुगमन करता रहा था।

**तात्पर्य :** शुद्ध भक्त के पद तक उन्नत होने के इच्छुक व्यक्ति के लिए ये ही आवश्यक योग्यताएँ हैं। ऐसे व्यक्ति को सदैव शुद्ध भक्तों के सान्निध्य की खोज करनी चाहिए। उसे छद्म भक्त से गुमराह नहीं हो जाना चाहिए। स्वयं उसे भी शुद्ध भक्त से उपदेश ग्रहण करने के लिए सरल तथा विनम्र होना चाहिए। शुद्ध भक्त पूर्ण रूप से भगवान् की शरण में रहता है। वह भगवान् को ही परम स्वामी तथा अन्यो को उनके सेवक रूप में जानता है। केवल शुद्ध भक्तों की संगति से ही लौकिक संगति से संचित होने वाले समग्र पापों से छूटा जा सकता है। नवदीक्षित भक्त को शुद्ध भक्त की श्रद्धापूर्वक सेवा करनी चाहिए। उसे अत्यन्त आज्ञाकारी होना चाहिए और उपदेशों का दृढ़तापूर्वक पालन करना चाहिए। ये लक्षण हैं उस भक्त के जो इसी जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ है।

ज्ञानं गुह्यतमं यत्तत्साक्षाद्भगवतोदितम् ।

अन्ववोचन् गमिष्यन्तः कृपया दीनवत्सलाः ॥ ३० ॥

**शब्दार्थ**

ज्ञानम्—ज्ञान; गुह्यतमम्—गोपनीय; यत्—जो है; तत्—उस; साक्षात्—प्रत्यक्ष; भगवता उदितम्—स्वयं भगवान् द्वारा प्रतिपादित; अन्ववोचन्—उपदेश दिया; गमिष्यन्तः—जाते समय; कृपया—अहैतुकी कृपा से; दीन-वत्सलाः—जो दीनों के प्रति अत्यन्त दयालु हैं।

दीन जनों पर अत्यन्त दयालु, उन भक्तिवेदान्तों ने जाते समय मुझे उस गुह्यतम विषय का उपदेश, जिसका उपदेश स्वयं भगवान् देते हैं।

**तात्पर्य :** विशुद्ध वेदान्ती या भक्तिवेदान्त अपने अनुयायियों को स्वयं भगवान् के उपदेशों के मुताबिक ही उपदेश देता है। भगवान् ने भगवद्गीता में तथा अन्य सारे शास्त्रों में निश्चित रूप से यह उपदेश दिया है कि लोग उन्हीं का अनुगमन करें। भगवान् प्रत्येक वस्तु के सृष्टा, पालक तथा

संहारक हैं। सारा दृश्य जगत उनकी इच्छा के बल पर अवस्थित है और जब उनकी इच्छा से सारा खेल समाप्त हो जाता है, तब वे अपनी सारी साज-सामग्री समेत अपने दिव्य धाम में बने रहते हैं। सृष्टि के पूर्व वे अपने इसी दिव्य धाम में थे और प्रलय के बाद भी वहीं बने ही रहेंगे। अतएव वे सृजित प्राणियों में से एक नहीं हैं। वे दिव्य हैं। *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं कि अर्जुन को दिये गये उपदेश के भी बहुत पहले उन्होंने यही उपदेश सूर्यदेव को दिया था। चूँकि बीच में यह शृंखला टूट गई थी और यह उपदेश गलत तरीके से उपयोग में लाया जाने लगा था, अतः वही उपदेश अर्जुन को फिर से दिया गया, क्योंकि वह उनका परम भक्त एवं मित्र था। अतएव भगवान् का उपदेश भक्तों के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं समझ सकता। भगवान् के दिव्य रूप का कोई अनुमान न होने के कारण निर्विशेषवादी भगवान् के इस गुह्यतम सन्देश को नहीं समझ पाते। यहाँ पर *गुह्यतमम्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि भक्ति का ज्ञान निर्गुण ब्रह्म के ज्ञान से बढ़कर है। *ज्ञानम्* का अर्थ होता है, सामान्य ज्ञान या ज्ञान की कोई शाखा। यही ज्ञान विकसित होते हुए निर्गुण ब्रह्म के ज्ञान तक पहुँच जाता है। इसके ऊपर, जब इसमें कुछ-कुछ भक्ति मिल जाती है, तो यह परमात्मा का ज्ञान या सर्वव्यापी भगवान् का ज्ञान बन जाता है। यह अत्यन्त गुह्य है। किन्तु यदि यह ज्ञान शुद्ध भक्तिमय सेवा में परिणत हो जाता है और दिव्य ज्ञान का गुह्य अंश प्राप्त हो जाता है, तो यह गुह्यतम ज्ञान कहलाता है। भगवान् ने ब्रह्मा, अर्जुन, उद्धव इत्यादि को यह गुह्यतम ज्ञान प्रदान किया।

येनैवाहं भगवतो वासुदेवस्य वेधसः ।

मायानुभावमविदं येन गच्छन्ति तत्पदम् ॥ ३१ ॥

### शब्दार्थ

येन—जिससे; एव—निश्चय ही; अहम्—मैं; भगवतः—भगवान् का; वासुदेवस्य—भगवान् श्रीकृष्ण का; वेधसः—परम स्रष्टा का; माया—शक्ति; अनुभावम्—प्रभाव; अविदम्—सरलता से समझा गया; येन—जिससे; गच्छन्ति—जाते हैं; तत्-पदम्—भगवान् के चरणकमलों में।



उस गुह्य ज्ञान से, मैं सम्पूर्ण पदार्थों के सृष्टा, पालक तथा संहार-कर्ता भगवान् श्रीकृष्ण की शक्ति के प्रभाव को ठीक-ठीक समझ सका। उसे जान लेने पर कोई भी मनुष्य उनके पास लौटकर उनसे साक्षात् भेंट कर सकता है।

तात्पर्य : कोई भी मनुष्य, भक्तिमय सेवा द्वारा या गुह्यतम ज्ञान से, यह सरलतापूर्वक जान सकता है कि भगवान् की विभिन्न शक्तियाँ किस प्रकार से कार्य करती हैं। शक्ति के एक अंश से भौतिक जगत का प्राकट्य होता है, दूसरे (उच्चतर) अंश से आध्यात्मिक जगत (वैकुण्ठ) प्रकट होता है। इन दोनों की मध्यवर्ती शक्ति जीवों को प्रकट करती है, जो उपर्युक्त शक्तियों में से किसी एक की सेवा करते हैं। भौतिक शक्ति की सेवा में लगे जीव अपने अस्तित्व तथा सुख के लिए कठोर संघर्ष करते हैं, जो उनके समक्ष मोह (भ्रम) के रूप में प्रस्तुत होते हैं। किन्तु जो आध्यात्मिक शक्ति में रहते हैं, उन्हें सनातन जीवन, पूर्ण ज्ञान तथा अविरत आनन्द में भगवान् की प्रत्यक्ष सेवा प्रदान की जाती है। जैसा कि *भगवद्गीता* में भगवान् ने कहा है, उनकी इच्छा है कि सारे बद्धजीव, जो भौतिक शक्ति की सत्ता में सड़ रहे हैं, इस भौतिक जगत के सारे कार्य-व्यापारों को त्यागकर उनके पास वापस आ जाएँ। ज्ञान का यह गुह्यतम अंश है। लेकिन इसे शुद्ध भक्त ही समझ सकते हैं, अतएव वे ही भगवान् के धाम में उनका दर्शन करने तथा उनकी सेवा करने के लिए पहुँच पाते हैं। इसका ज्वलन्त उदाहरण स्वयं नारद जी हैं, जिन्हें शाश्वत ज्ञान तथा शाश्वत आनन्द की यह अवस्था प्राप्त हुई। इसके सारे साधन तथा मार्ग हर एक के लिए खुले रहते हैं, बशर्ते कि वह श्री नारद मुनि के चरणचिह्नों का अनुगमन करने के लिए राजी हो जाता है। श्रुति के अनुसार, परमेश्वर की शक्तियाँ (अनायास ही)असीम हैं और जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, वे तीन प्रमुख कोटियों में वर्णित की गई हैं।

एतत्संसूचितं ब्रह्मंस्तापत्रयचिकित्सितम् ।

यदीश्वरे भगवति कर्म ब्रह्मणि भावितम् ॥ ३२ ॥

## शब्दार्थ

एतत्—इतना; संसूचितम्—विद्वानों द्वारा निर्धारित; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण व्यास; ताप-त्रय—तीन प्रकार के ताप ( कष्ट ); चिकित्सितम्—उपचार, औषधि; यत्—जो; ईश्वरे—परम नियामक; भगवति—भगवान् में; कर्म—नियत कार्य; ब्रह्मणि—ब्रह्म में; भावितम्—समर्पित।

हे ब्राह्मण व्यासदेव, विद्वानों द्वारा यह निश्चित हुआ है कि समस्त कष्टों तथा दुखों के उपचार का सर्वोत्तम उपाय यह है कि अपने सारे कर्मों को भगवान् ( श्रीकृष्ण ) की सेवा में समर्पित कर दिया जाय।

तात्पर्य : श्री नारद मुनि ने स्वयं यह अनुभव किया कि मोक्ष का मार्ग खोलने या जीवन के समस्त कष्टों से छूट पाने के लिए, सबसे सहज तथा व्यावहारिक उपाय यह है कि सही तथा प्रामाणिक स्रोत से भगवान् की दिव्य लीलाओं का विनीत भाव से श्रवण किया जाय। यही उपचार की एकमात्र औषधि विधि है। यह सारा भौतिक जगत कष्टों से भरा है। मूर्ख लोगों ने अपने क्षुद्र मस्तिष्कों के बल पर शरीर तथा मन से सम्बन्धित एवं अन्य जीवों के सन्दर्भ में प्राकृतिक विपदाओं से सम्बन्धित तीन प्रकार के कष्टों को दूर करने के अनेक उपचार ढूँढ निकाले हैं। सारा संसार इन कष्टों से उबरने के लिए कठिन संघर्ष कर रहा है, किन्तु लोग यह नहीं जानते कि भगवान् की अनुमति के बिना न तो किसी योजना से, न ही किसी उपचार विधि से वांछित शान्ति एवं उपशमन लाया जा सकता है। यदि भगवान् की स्वीकृति न हो तो औषधि उपचार द्वारा रोगी को स्वस्थ करने का प्रयास व्यर्थ होगा। यदि भगवान् की स्वीकृति न हो तो नदी या समुद्र को नाव द्वारा पार करना कोई उपचार नहीं है। हमें यह निश्चित रूप से ज्ञात होना चाहिए कि भगवान् ही परम स्वीकृति-दाता हैं, अतएव अन्तिम सफलता के लिए या सफलता के मार्ग के अवरोधों से मुक्ति पाने के लिए हमें अपने सारे प्रयास भगवान् को समर्पित कर देने चाहिए। भगवान् सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान तथा सर्वज्ञ हैं। वे समस्त अच्छे या बुरे फलों के चरम स्वीकृतिदाता हैं। अतएव हमें चाहिए कि हम अपने सारे कर्म भगवान् की कृपा को समर्पित करें और उन्हें ही निर्गुण ब्रह्म, अन्तर्यामी परमात्मा या पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के रूप में स्वीकारें। फिर चाहे हम जो भी हों, हमें प्रत्येक वस्तु भगवान् की सेवा में समर्पित करनी चाहिए। यदि कोई विद्वान, विज्ञानी, दार्शनिक, कवि इत्यादि है, तो उसे चाहिए कि भगवान् की श्रेष्ठता स्थापित करने

के लिए अपने ज्ञानका उपयोग करे। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में भगवान् की शक्ति का अध्ययन करने का प्रयास करो। न तो उनका बहिष्कार करो और न ही अल्प ज्ञान संग्रह करके उनके समान बनने या उनका स्थान ग्रहण करने का प्रयास करो। यदि कोई प्रशासक, राजनीतिज्ञ, योद्धा इत्यादि है, तो उसे चाहिए कि राजधर्मिता में भगवान् की सर्वश्रेष्ठता स्थापित करने का यत्न करे। उसे चाहिए कि श्री अर्जुन की भाँति भगवान् के लिए युद्ध करे। प्रारम्भ में, महान योद्धा श्री अर्जुन ने युद्ध करने से इनकार कर दिया था, किन्तु जब भगवान् ने उसे विश्वास दिलाया कि युद्ध करना आवश्यक है, तो उसने अपना इरादा बदल दिया और भगवान् के लिए युद्ध किया। इसी प्रकार यदि कोई व्यापारी है, उद्योगपति है या किसान है, तो उसे चाहिए कि अपनी गाढ़ी कमाई का खर्च भगवान् के लिए करे। सदैव यही सोचना चाहिए कि जितना भी संचित धन है, वह भगवान् की सम्पदा है। सम्पदा को भाग्य की देवी (लक्ष्मी) माना जाता है और भगवान् तो नारायण या लक्ष्मीपति हैं। अतएव लक्ष्मी को भगवान् नारायण की सेवा में लगाने का प्रयत्न करो और सुखी बनो। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में भगवान् की अनुभूति करने का यही रास्ता है। अन्ततः, सर्वोत्तम बात तो यह होगी कि समस्त भौतिक कार्यों से छुटकारा पाकर अपने आपको भगवान् की दिव्य लीलाओं के श्रवण में लगाया जाय। किन्तु ऐसा अवसर प्राप्त न होने पर मनुष्य को चाहिए कि वह जिन-जिन वस्तुओं के प्रति आकर्षित है, उन्हें वह भगवान् की सेवा में लगाने का प्रयास करे। शान्ति तथा सम्पन्नता का यही मार्ग है। इस श्लोक में *संसूचितम्* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है। किसी को कभी यह नहीं सोचना चाहिए कि नारद की अनुभूति बाल-कल्पना मात्र थी। ऐसा नहीं है। इसकी अनुभूति कुशल तथा प्रकांड विद्वानों ने की है और *संसूचितम्* शब्द का यही असली आशय है।

आमयो यश्च भूतानां जायते येन सुव्रत ।

तदेव ह्यामयं द्रव्यं न पुनाति चिकित्सितम् ॥ ३३ ॥

## शब्दार्थ

आमयः—व्याधियाँ; यः च—जो भी; भूतानाम्—जीवों की; जायते—सम्भव होती है; येन—जिसके द्वारा; सुव्रत—हे महात्मा; तत्—वह; एव—ही; हि—निश्चय ही; आमयम्—व्याधि; द्रव्यम्—वस्तु; न—नहीं; पुनाति—अच्छा करती है; चिकित्सितम्—उपचार की गई।

हे श्रेष्ठ पुरुष, क्या भैषज विज्ञान की विधि से प्रयुक्त की गई कोई वस्तु उस रोग को ठीक नहीं कर देती, जिससे ही वह रोग उत्पन्न हुआ हो ?

तात्पर्य : कुशल चिकित्सक अपने रोगी की चिकित्सा अनुपान द्वारा करता है। उदाहरणार्थ, कभी-कभी दूध के बने पदार्थ खाने से पेट गड़बड़ा जाता है, किन्तु जब उसी दूध को दही में परिणत करके उसमें कुछ अन्य औषधियाँ मिला दी जाती हैं, तो वह उस गड़बड़ी को दूर कर देता है। इसी प्रकार भौतिक जगत के ताप-त्रय को केवल भौतिक कार्यों से दूर नहीं किया जा सकता। ऐसे कार्यों को उसी तरह आध्यात्मिक बनाने की आवश्यकता है, जिस प्रकार पहले लोहे को अग्नि में तपाकर लाल कर लिया जाता है और तब अग्नि अपना कार्य करती है। इसी प्रकार किसी वस्तु की भौतिक अवधारणा तुरन्त ही बदल जाती है, यदि हम उसे भगवान् की सेवा में लगा देते हैं। आध्यात्मिक सफलता का यही रहस्य है। हमें न तो प्रकृति पर प्रभुत्व जताने का प्रयास करना चाहिए और न ही भौतिक वस्तुओं का परित्याग करना चाहिए। बुरे सौदे के सदुपयोग की सर्वश्रेष्ठ विधि यह है कि सारी की सारी वस्तुओं का उपयोग भगवान् के लिए किया जाये। प्रत्येक वस्तु परमात्मा से उद्भूत है। वे अपनी अचिन्त्य शक्ति से आत्मा को पदार्थ में तथा पदार्थ को आत्मा में बदल सकते हैं। अतः भगवान् की परमेच्छा से कोई भी (तथाकथित) भौतिक वस्तु तुरन्त ही आध्यात्मिक शक्ति में बदल सकती है। ऐसे परिवर्तन के लिए आवश्यक शर्त यह है कि तथाकथित पदार्थ को आत्मा की सेवा में लगाया जाए। अपने भौतिक रोगों का उपचार करने तथा अपने आपको उस आध्यात्मिक स्तर तक उठाने के लिए, जहाँ न दुःख है, न शोक और न भय, यही एकमात्र उपाय है। इस प्रकार जब प्रत्येक वस्तु भगवान् की सेवा में लगा दी जाती है, तो हमें अनुभव होता है कि परब्रह्म के अलावा कुछ भी नहीं है। इस प्रकार सर्व खल्विदं ब्रह्म—यह वैदिक मन्त्र चरितार्थ होता है।

एवं नृणां क्रियायोगाः सर्वे संसृतिहेतवः ।

त एवात्मविनाशाय कल्पन्ते कल्पिताः परे ॥ ३४ ॥

### शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; नृणाम्—मनुष्यों के; क्रिया-योगाः—सारे कार्यकलाप; सर्वे—सब कुछ; संसृति—भौतिक अस्तित्व; हेतवः—कारण; ते—वे; एव—निश्चय ही; आत्म—कार्य रूपी वृक्ष; विनाशाय—नष्ट करने के लिए; कल्पन्ते—सक्षम होते हैं; कल्पिताः—समर्पित; परे—परमेश्वर में।

इस प्रकार जब मनुष्य के सारे कार्यकलाप भगवान् की सेवा में समर्पित होते हैं, तो वही सारे कर्म जो उसके शाश्वत बन्धन के कारण होते हैं, कर्म रूपी वृक्ष के विनाशकर्ता बन जाते हैं।

तात्पर्य : भगवद्गीता में जीवों को निरन्तर व्यस्त रखने वाले सकाम कर्म की तुलना वटवृक्ष (अश्वत्थ) से की गई है, क्योंकि इसकी जड़ें बहुत गहरी होती हैं। जब तक कर्म के फल का भोग करने की इच्छा रहती है, तब तक कर्म के अनुसार आत्मा का देहान्तरण एक शरीर से दूसरे में, एक स्थान से दूसरे स्थान में होता रहता है। यही भोगेच्छा भगवान् की सेवा करने की इच्छा में बदली जा सकती है। ऐसा करने से मनुष्य का कार्य कर्मयोग में अथवा उस मार्ग में बदल जाता है, जिससे मनुष्य अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार कर्म करते हुए आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त कर सकता है। यहाँ पर आत्मा शब्द समस्त सकाम कर्म की कोटियों का सूचक है। निष्कर्ष यह निकलता है कि जब समस्त सकाम तथा अन्य कर्मों को भगवान् की सेवा में लगा दिया जाता है, तब फिर नये कर्म उत्पन्न नहीं होते और धीरे-धीरे दिव्य भक्तिमय सेवा का विकास होता है, जिससे न केवल कर्म रूपी अश्वत्थ वृक्ष का पूर्ण रूप से मूलोच्छेद होगा, अपितु वह कर्ता को भगवान् के चरणकमलों तक ले जाएगी।

सारांश यह है कि मनुष्य को सर्वप्रथम ऐसे शुद्ध भक्तों की संगति खोजनी होती है, जो न केवल वेदान्त के पण्डित हों, अपितु स्वरूपसिद्ध तथा भगवान् श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त हों। इस संगति में नवदीक्षित भक्तों को चाहिए कि बिना भेदभाव के तन तथा मन से प्रेमपूर्ण सेवा करें। इस सेवा-वृत्ति से प्रेरित होकर महापुरुष अपनी कृपा प्रदान करने के लिए अधिक इच्छुक होंगे, जिससे नवदीक्षित भक्त में शुद्ध भक्तों के दिव्य गुणों का समावेश हो सकेगा। धीरे-धीरे इससे

भगवान् की दिव्य लीलाओं के श्रवण के प्रति प्रगाढ़ रुचि उत्पन्न हो सकेगी, जिससे वह स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों की स्वाभाविक स्थिति तथा उससे भी परे शुद्ध आत्मा तथा परमात्मा के साथ अपने शाश्वत सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त कर सकेगा। शाश्वत सम्बन्ध की स्थापना के जुड़ जाने के बाद धीरे-धीरे भगवान् की शुद्ध भक्ति विकसित होकर भगवान् के पूर्ण ज्ञान का रूप धारण कर लेती है, जो निर्गुण ब्रह्म तथा अन्तर्यामी परमात्मा की परिधि के बाहर है। ऐसे पुरुषोत्तम योग से, जिसका *भगवद्गीता* में उल्लेख है, मनुष्य इसी शरीर में परिपूर्ण बन जाता है और उसमें सर्वोच्च मात्रा में भगवान् के उत्तम गुण दिखने लगते हैं। शुद्ध भक्तों की संगति से ऐसा ही क्रमिक विकास होता है।

यदत्र क्रियते कर्म भगवत्परितोषणम् ।  
ज्ञानं यत्तदधीनं हि भक्तियोगसमन्वितम् ॥ ३५ ॥

### शब्दार्थ

यत्—जो भी; अत्र—इस जीवन या जगत में; क्रियते—करता है; कर्म—कार्य; भगवत्—भगवान् की; परितोषणम्—तुष्टि हेतु; ज्ञानम्—ज्ञान; यत् तत्—जो इस तरह कहलाता है; अधीनम्—आश्रित; हि—निश्चय ही; भक्ति-योग—भक्ति सम्बन्धी; समन्वितम्—भक्तियोग से युक्त।

इस जीवन में भगवान् की तुष्टि के लिए जो भी कार्य किया जाता है, उसे भक्तियोग अथवा भगवान् के प्रति दिव्य प्रेमा भक्ति कहते हैं और जिसे ज्ञान कहते हैं, वह तो सहगामी कारक बन जाता है।

तात्पर्य : आम तौर पर लोकप्रियधारणा यह है कि शास्त्रानुमोदित विधि से सकाम कर्म करने से मनुष्य आत्म-साक्षात्कार के लिए दिव्य ज्ञान प्राप्त करने के योग्य बन जाता है। कुछ लोग भक्तियोग को कर्म का दूसरा रूप मानते हैं। लेकिन वस्तुतः भक्तियोग कर्म तथा ज्ञान दोनों ही से ऊपर है। भक्तियोग ज्ञान या कर्म से स्वतन्त्र है, जबकि ज्ञान तथा कर्म भक्तियोग के आश्रित हैं। यह क्रियायोग या कर्मयोग, जिसकी संस्तुति नारद ने व्यास के लिए की है, विशेष रूप से संस्तुत हुआ है, क्योंकि मूल सिद्धान्त तो भगवान् को प्रसन्न करना है। भगवान् नहीं चाहते कि उनके पुत्र रूप सारे जीव, जीवन के त्रिविध तापों से पीड़ित रहें। वे चाहते रहते हैं कि वे सब उनके पास

आकर साथ-साथ रहें, लेकिन भगवान् के धाम वापस जाने का अर्थ यह है कि मनुष्य अपने को सांसारिक कल्मषों से शुद्ध कर ले। अतः जब भगवान् को तुष्ट करने के लिए कर्म किया जाता है, तो कर्ता धीरे-धीरे भौतिक कल्मष से शुद्ध होता रहता है। इस शुद्धिकरण का अर्थ है, आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति। अतएव ज्ञान भगवान् के लिए किये गये कर्म पर आश्रित है। भक्तियोग या भगवान् की तुष्टि से विहीन अन्य ज्ञान, किसी को भगवद्धाम नहीं पहुँचा सकता जिसका अर्थ यह हुआ कि वह मोक्ष भी नहीं दिला सकता, जैसा कि *नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितम्* श्लोक में व्याख्या की जा चुकी है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि जो भक्त भगवान् की अनन्य सेवा में, विशेष रूप से भगवान् की दिव्य महिमा के श्रवण तथा कीर्तन में लगा रहता है, वह दैवी कृपा से साथ ही साथ आध्यात्मिक प्रकाश प्राप्त करता रहता है जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में की गई है।

कुर्वाणा यत्र कर्माणि भगवच्छिक्षयासकृत् ।

गृणन्ति गुणनामानि कृष्णस्यानुस्मरन्ति च ॥ ३६ ॥

### शब्दार्थ

कुर्वाणाः—करते हुए; यत्र—जहाँ; कर्माणि—कर्तव्य; भगवत्—भगवान् की; शिक्षया—इच्छा से; असकृत्—निरन्तर; गृणन्ति—ग्रहण करता है; गुण—गुण; नामानि—नाम; कृष्णस्य—कृष्ण के; अनुस्मरन्ति—निरन्तर स्मरण करता है; च—तथा।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण के आदेशानुसार कर्म करते हुए मनुष्य निरन्तर उनका उनके नामों का तथा उनके गुणों का स्मरण करता है।

तात्पर्य : भगवान् का कुशल भक्त अपने जीवन को इस प्रकार ढाल सकता है कि चाहे इस जीवन के लिए सभी प्रकार के कार्य करे या अगले जन्म के लिए, वह निरन्तर भगवान् के नाम, यश, गुणों इत्यादि का स्मरण करता रहे। भगवान् का आदेश *भगवद्गीता* में सुस्पष्ट है—मनुष्य को जीवन के समस्त क्षेत्रों में भगवान् के लिए ही कर्म करना चाहिए। भगवान् को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में स्वामी के रूप में स्थित होना चाहिए। वैदिक अनुष्ठानों के अनुसार इन्द्र, ब्रह्मा, सरस्वती तथा गणेश जैसे कतिपय देवताओं की पूजा तक में, प्रत्येक दशा में विष्णु का प्रतिनिधित्व यज्ञेश्वर

के रूप में होना चाहिए। ऐसा विधान है कि विशिष्ट देवता की पूजा विशेष कार्य के लिए की जाए, लेकिन फिर भी विष्णु की उपस्थिति अनिवार्य रहती है, जिससे कार्य भलीभाँति सम्पन्न हो सके।

ऐसे वैदिक कर्तव्यों के साथ ही साथ, हमारे सामान्य व्यवहारों (उदाहरणार्थ, हमारे घरेलू कार्यों या व्यापार अथवा व्यवसाय) में हमें ध्यान रखना चाहिए कि हम अपने कार्यों का फल परम भोक्ता भगवान् कृष्ण को अर्पित करें। *भगवद्गीता* में स्वयं भगवान् ने यह घोषित किया है कि वे ही सभी वस्तुओं के परम भोक्ता हैं, वे ही प्रत्येक लोक के परम स्वामी हैं और वे ही समस्त जीवों के परम मित्र हैं। अपनी सृष्टि में केवल कृष्ण ही अपने को सबका स्वामी कह सकते हैं, अन्य कोई नहीं। शुद्ध भक्त इसे सदैव स्मरण रखता है और ऐसा करते समय वह भगवान् के दिव्य नाम, यश तथा गुणों को दुहराता जाता है, जिसका अर्थ होता है कि वह निरन्तर भगवान् के सम्पर्क में है। चूँकि भगवान् अपने नाम, यश इत्यादि से अभिन्न हैं, अतः उनके नाम, यश इत्यादि से सम्बद्ध होने का अर्थ उनकी वास्तविक संगति करना है।

हमारी आर्थिक आय का कम-से-कम पचास प्रतिशत हिस्सा भगवान् कृष्ण के आदेशों की पूर्ति करने में व्यय होना चाहिए। इसके लिए हमें अपनी कमाई के लाभांश का ही उपयोग नहीं करना चाहिए, अपितु अन्यो को इस भक्ति सम्प्रदाय का उपदेश भी देना चाहिए, क्योंकि यह भी भगवान् का एक आदेश है। भगवान् का यह स्पष्ट कथन है कि जो सारे विश्व में उनके नाम तथा यश के प्रचार-प्रसार कार्य में लगा है, वह उन्हें सर्वाधिक प्रिय है। इस भौतिक जगत की वैज्ञानिक खोजों को भी समान रूप से भगवान् के आदेशों का पालन करने में लगाया जा सकता है। वे चाहते हैं कि *भगवद्गीता* के सन्देश का प्रचार उनके भक्तों में किया जाए। जिन लोगों के पास तपस्या, दान, शिक्षा इत्यादि की कोई-पूँजी नहीं है, उनमें चाहे इसका प्रचार न भी हो। अतएव अनिच्छुक लोगों को भगवान् के भक्त बनाने के लिए प्रयास होते रहना चाहिए। इसके सम्बन्ध में भगवान् चैतन्य ने एक सरल विधि बताई है। उन्होंने गायन, नर्तन तथा प्रसाद वितरण के माध्यम से दिव्य संदेश का उपदेश देने की विधि बताई है। अतएव हमें अपनी आय का आधा भाग ऐसे



प्रयोजन के लिए व्यय करना चाहिए। कलह और धर्म विरोध के इस युग में, यदि समाज के जाने-माने और धनवान व्यक्ति अपनी आय का आधा हिस्सा भगवान् की सेवा में लगाने की सहमत हो जाँय, जैसा श्री चैतन्य महाप्रभु ने सिखाया है, निश्चित ही इस उपद्रव भरे नरक जैसे संसार को भगवान का दिव्य धाम बनाया जा सकता है। जहाँ अच्छा गायन, नर्तन और प्रसाद बंट रहा हो, वहा जाने को कोई इनकार नहीं करेगा। ऐसे समारोह में सभी सम्मिलित होना चाहेंगे और हर एक को भगवान् की दिव्य उपस्थिति का अनुभव होगा। इसीसे सेवक को भगवान् की संगति का लाभ हो सकता है और इस तरह वह आत्म-साक्षात्कार के लिए अपने को शुद्ध बना सकता है। ऐसे आध्यात्मिक कार्यों को सफलतापूर्वक सम्पन्न करने की एकमात्र शर्त यह है कि ये सारे कार्य ऐसे शुद्ध भक्त के निर्देशन में सम्पन्न हों, जो समस्त लौकिक इच्छाओं, सकाम कर्मों तथा भगवान् की प्रकृति के विषय में शुष्क चिन्तनों से मुक्त हो। किसी को भगवान् की प्रकृति खोजने की आवश्यकता नहीं है। भगवान् ने स्वयं ही, विशेष रूप से *भगवद्गीता* में तथा सामान्य रूप से अन्य वैदिक साहित्य में, इसका वर्णन किया है। हमें केवल उन्हें यथारूप ग्रहण करके भगवान् के आदेशों का पालन करना है। इससे हमें सिद्धि-पथ प्राप्त हो सकेगा। किसी को अपनी स्थिति छोड़नी नहीं होगी, विशेषकर, विविध कठिनाइयों के इस युग में; वह अपनी स्थिति (पद) में बना रह सकता है। शर्त एक ही है कि उसे भगवान् से तदाकार होने का शुष्क चिन्तन त्यागना होगा। इस प्रकार की अहंकारपूर्ण महत्त्वाकांक्षा को त्याग कर उसे चाहिए कि वह किसी प्रामाणिक भक्त से, जिसकी योग्यताएँ ऊपर बताई गई हैं, विनीत भाव से *भगवद्गीता* या *श्रीमद्भागवत* में प्राप्त भगवान् के आदेशों को ग्रहण करे। इससे सभी कुछ सफल हो सकेगा, इसमें सन्देह नहीं।

ॐ नमो भगवते तुभ्यं वासुदेवाय धीमहि ।  
 प्रद्युम्नायानिरुद्धाय नमः सङ्कर्षणाय च ॥ ३७ ॥

## शब्दार्थ

ॐ— भगवान् की दिव्य महिमा के कीर्तन का प्रतीक; नमः— भगवान् को नमस्कार करना; भगवते— भगवान् को; तुभ्यम्— तुमको; वासुदेवाय— वासुदेव के पुत्र भगवान् को; धीमहि— उच्चारण या कीर्तन करें; प्रद्युम्नाय अनिरुद्धाय सङ्कर्षणाय— ये तीनों वासुदेव के पूर्ण अंश हैं; नमः— सादर नमस्कार है; च— तथा ।

आइये, हम सब वासुदेव तथा उनके पूर्ण अंश प्रद्युम्न, अनिरुद्ध तथा संकर्षण सहित उनकी महिमा का कीर्तन करें।

तात्पर्य : पञ्चरात्र के अनुसार, नारायण ईश्वर के समस्त विस्तारों के आदि कारण हैं। ये विस्तार हैं—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध। वासुदेव तथा संकर्षण बाएँ-दाएँ आसीन हैं, प्रद्युम्न संकर्षण के दाएँ हैं और अनिरुद्ध वासुदेव की बाईं ओर आसीन हैं। इस प्रकार ये चारों विग्रह आसीन रहते हैं। ये चारों भगवान् श्रीकृष्ण के चतुर्व्यूह के रूप में जाने जाते हैं।

यह एक वैदिक मन्त्र है जो ॐकार प्रणव से प्रारम्भ होता है। इस प्रकार इस मंत्र को ॐ नमो धीमहि... के रूप में दिव्य उच्चारण (कीर्तन) के द्वारा स्थापित किया जाता है।

तात्पर्य यह है कि कोई भी आदान-प्रदान, चाहे वह सकाम कर्म के क्षेत्र में हो या ज्ञान के क्षेत्र में हो, जिसका परम लक्ष्य परमेश्वर की दिव्य अनुभूति नहीं होता, व्यर्थ माना जाता है। इसलिए नारद ने अपने अनुभव के आधार पर, अनन्य भक्तिमय सेवा की प्रकृति की व्याख्या की है, जिसमें प्रगतिशील भक्ति-कार्यों की क्रमिक विधि से भगवान् तथा जीव के मध्य अन्तरंग सम्बन्ध विकसित किया जाता है। भगवान् के लिए दिव्य भक्ति की ऐसी प्रगति का अन्त भगवान् की प्रेममयी सेवा में होता है, जिसे प्रेमा कहते हैं और जो अपनी दिव्य विविधताओं में रस कहलाती है। ऐसी भक्ति मिश्रित रूपों में भी सम्पन्न होती है, जैसे कि सकाम कर्म या तर्कवितर्क के साथ मिश्रित होकर।

अब जिस प्रश्न को शौनक आदि ऋषियों ने उठाया था और जिसका सम्बन्ध गुरु के माध्यम से सूत जी की उपलब्धि के गुह्य अंश से था, उसकी व्याख्या इस श्लोक में की गई है और वह है तैंतीस अक्षरों वाले इस मन्त्र का उच्चारण। यह मन्त्र चार विग्रहों को अथवा भगवान् को उनके पूर्णांशों के सहित सम्बोधित है। केन्द्रीय विग्रह तो भगवान् श्रीकृष्ण हैं, क्योंकि ये पूर्ण अंश उनके अंगरक्षक हैं। इस उपदेश का गुह्यतम अंश यह है कि मनुष्य को चाहिए कि भगवान् के विभिन्न

अंशों—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध समेत पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण की महिमा का निरन्तर कीर्तन तथा स्मरण करे। ये विस्तार अन्य समस्त रूपों यथा विष्णुतत्त्व या शक्ति तत्त्वों के मूल विग्रह रूप हैं।

इति मूर्त्यभिधानेन मन्त्रमूर्तिममूर्तिकम् ।

यजते यज्ञपुरुषं स सम्यग्दर्शनः पुमान् ॥ ३८ ॥

### शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; मूर्ति—प्रतिरूप; अभिधानेन—शब्द या ध्वनि में; मन्त्र-मूर्तिम्—दिव्य उच्चारण का स्वरूप; अमूर्तिकम्—भगवान् जिनका कोई भौतिक रूप नहीं है; यजते—पूजा करते हैं; यज्ञ—विष्णु; पुरुषम्—भगवान् को; सः—वह ही; सम्यक्—पूर्णरूप से; दर्शनः—जिसने देखा है; पुमान्—व्यक्ति।

इस प्रकार वास्तविक दृष्टा वही है, जो दिव्य मन्त्रमूर्ति, श्रीभगवान् विष्णु की पूजा करता है, जिनका कोई भौतिक रूप नहीं होता।

तात्पर्य : हमारी वर्तमान इन्द्रियाँ भौतिक तत्त्वों की बनी हैं, अतएव वे भगवान् विष्णु के दिव्य रूप की ठीक से अनुभूति नहीं कर पातीं। अतः उनकी पूजा कीर्तन की दिव्य विधि के माध्यम से ध्वनि में की जाती है। जो वस्तु हमारी अपूर्ण इन्द्रियों के क्षेत्र के बाहर है, उसे ध्वनि स्वरूप के द्वारा भली-भाँति अनुभव किया जा सकता है। यदि कोई दूर खड़ा ध्वनि उत्पन्न करे तो उसका यथार्थ अनुभव किया जा सकता है। यदि भौतिक दृष्टि से यह सम्भव है, तो फिर आध्यात्मिक दृष्टि से क्यों नहीं होगा? यह अनुभव कोई कोरा निराकार अनुभव नहीं है। यह उन दिव्य ईश्वर का वास्तविक अनुभव है जो सच्चिदानन्दस्वरूप हैं।

अमरकोश नामक संस्कृत कोश में मूर्ति शब्द के दो आशय प्रमुख हैं—स्वरूप तथा कठिनाई। अतएव आचार्य श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने अमूर्तिकम् का अर्थ “किसी कठिनाई के बिना” लगाया है। शाश्वत आनन्द तथा ज्ञान के दिव्य स्वरूप का अनुभव हमारी मूल आध्यात्मिक इन्द्रियों द्वारा ही हो सकता है, जिसे पवित्र मन्त्रों के उच्चारण या दिव्य उच्चारण ध्वनि द्वारा पुनरुज्जीवित किया जा सकता है। ऐसी ध्वनि प्रामाणिक गुरु के पारदर्शी माध्यम द्वारा प्राप्त की जानी चाहिए और गुरु के निर्देशन में ही इसके उच्चारण (कीर्तन) का अभ्यास करना चाहिए। यह हमें धीरे-

धीरे ईश्वर के अधिक निकट ले जाएगा। पूजा की यह विधि *पाञ्चरात्रिक* विधि में संस्तुत है जो मान्य एवं प्रामाणिक विधि है। *पाञ्चरात्रिक* विधि में दिव्य भक्तिमय सेवा के लिए सर्वाधिक प्रामाणिक संकेत प्राप्त हैं। ऐसे संकेतों के बिना शुष्क दार्शनिक चिन्तन द्वारा निश्चित ही भगवान् के पास नहीं पहुँचा जा सकता है। *पञ्चरात्रिक* विधि इस कलह-प्रधान युग के लिए व्यावहारिक एवं उपयुक्त है। इस आधुनिक युग के लिए *पञ्चरात्र*, वेदान्त की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है।

इमं स्वनिगमं ब्रह्मन्नेत्येव मनुष्यितम् ।

अदान्मे ज्ञानमैश्वर्यं स्वस्मिन् भावं च केशवः ॥ ३९ ॥

### शब्दार्थ

इमम्—इस प्रकार; स्व-निगमम्—भगवान् विषयक वेदों का गुह्य ज्ञान; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण ( व्यासदेव ); अनेत्ये—यह जानकर; मत्—मेरे द्वारा; अनुष्ठितम्—सम्पन्न; अदात्—वर दिया; मे—मुझे; ज्ञानम्—दिव्य ज्ञान; ऐश्वर्यम्—ऐश्वर्य; स्वस्मिन्—निजी; भावम्—प्रगाढ़ प्यार तथा स्नेह; च—तथा; केशवः—भगवान् कृष्ण ने।

हे ब्राह्मण, इस प्रकार सर्वप्रथम भगवान् कृष्ण ने मुझे वेदों के गुह्यतम अंशों में निहित भगवान् के दिव्य ज्ञान का, फिर आध्यात्मिक ऐश्वर्य का और तब अपनी घनिष्ठ प्रेममय सेवा का वर दिया।

तात्पर्य : दिव्य शब्द द्वारा भगवान् के साथ संसर्ग सर्वात्मा भगवान् श्रीकृष्ण से अभिन्न है। भगवान् तक पहुँचने की यह सबसे पूर्ण विधि है। भगवान् के साथ ऐसे शुद्ध संसर्ग द्वारा, जो भौतिक विचारों के अपराधों से रहित है (जिनकी संख्या दस है), भक्त भौतिक स्तर से ऊपर उठकर वैदिक साहित्य के तात्पर्य को समझता है एवं दिव्य संसार में भगवान् के अस्तित्व को भी समझता है। जो अपने गुरु तथा भगवान् में अनन्य श्रद्धा रखता है, उसे भगवान् क्रमशः अपने स्वरूप का साक्षात्कार कराते हैं। इसके पश्चात् भक्त को योग की सिद्धियाँ प्रदान की जाती हैं, जिनकी संख्या आठ है। इनसे भी बढ़कर, भक्त को भगवान् का पार्षद स्वीकार कर लिया जाता है और उसे गुरु के माध्यम से भगवान् की विशिष्ट सेवा का कार्यभार सौंपा जाता है। शुद्ध भक्त अपनी सुप्त योग-सिद्धियों के प्रदर्शन की अपेक्षा भगवान् की सेवा करने में अधिक रुचि रखता है। श्री नारद ने इन सबका वर्णन अपने निजी अनुभव से किया है और मनुष्य को वे सारी

सुविधाएँ प्राप्त हो सकती हैं, जो श्री नारद को भगवान् के शब्द-प्रतिरूप के उच्चारण से प्राप्त हुई थीं। इस दिव्य ध्वनि (शब्दों) के उच्चारण पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है, बशर्ते कि इसे नारद के प्रतिनिधि से प्राप्त किया जाय, जो गुरु-शिष्य परम्परा पद्धति से चला आ रहा है।

त्वमप्यदभ्रश्रुत विश्रुतं विभोः  
समाप्यते येन विदां बुभुत्सितम् ।  
प्राख्याहि दुःखैर्मुहुरदितात्मनां  
सङ्क्लेशनिर्वाणमुशन्ति नान्यथा ॥ ४० ॥

### शब्दार्थ

त्वम्—तुम; अपि—भी; अदभ्र—विशाल; श्रुत—वैदिक साहित्य; विश्रुतम्—सुना हुआ; विभोः—सर्वशक्तिमान का; समाप्यते—सन्तुष्ट; येन—जिससे; विदाम्—विद्वान का; बुभुत्सितम्—दिव्य ज्ञान सीखने के इच्छुक को; प्राख्याहि—वर्णन करो; दुःखैः—दुखों से; मुहुः—सदैव; अर्दित-आत्मनाम्—पीड़ित जनसमूह को; सङ्क्लेश—कष्ट को; निर्वाणम्—शमन; उशन्ति न—नहीं निकल पाते; अन्यथा—अन्य साधनों से।

अतः कृपा करके सर्वशक्तिमान के उन कार्यकलापों का वर्णन करो, जिसे तुमने वेदों के अपार ज्ञान से जाना है, क्योंकि उससे महान् विद्वज्जनों की ज्ञान-पिपासा की तृप्ति होगी और साथ ही सामान्य लोगों के कष्टों का भी शमन होगा, जो भौतिक दुखों से सदैव पीड़ित रहते हैं। निस्सन्देह, इन कष्टों से उबरने का कोई अन्य साधन नहीं है।

तात्पर्य : श्री नारद मुनि अपने व्यावहारिक अनुभव से निश्चित रूप से प्रमाणित करते हैं कि भौतिक कर्म की सारी समस्याओं का मूल समाधान परमेश्वर की दिव्य महिमा को दूर-दूर तक प्रसारित करने में है। सज्जनों की चार श्रेणियाँ होती हैं और दुर्जनों की भी इतनी ही श्रेणियाँ हैं। चारों श्रेणियों के सज्जन सर्वशक्तिमान ईश्वर की सत्ता को तब स्वीकार करते हैं (१) जब वे विपत्ति में पड़ते हैं, (२) जब उन्हें धन की आवश्यकता होती है, (३) जब वे ज्ञान में बढ़ जाते हैं तथा (४) जब वे ईश्वर के विषय में अधिकाधिक जानना चाहते हैं। वे अन्तःप्रेरणावश भगवान् की शरण ग्रहण करते हैं। इस प्रकार नारद जी व्यासदेव को उपदेश देते हैं कि वे भगवान् के दिव्य ज्ञान का प्रसार उस विशाल वैदिक ज्ञान के संदर्भ में करें जिन्हें उन्होंने पहले से प्राप्त कर रखा है।

जहाँ तक दुर्जनों का सम्बन्ध है, उनकी भी चार श्रेणियाँ हैं—(१) वे जो सहज रूप से प्रगतिशील सकाम कर्म के प्रति आसक्त हैं और इस तरह उसके साथ जुड़े हुए अनेक कष्टों को भोगते रहते हैं, (२) वे जो इन्द्रियतुष्टि के गर्हित कार्य में लगे रहते हैं और इस तरह परिणाम को भोगते हैं, (३) वे जो भौतिक रूप से ज्ञान में तो अत्यन्त समृद्ध हैं, लेकिन सर्वशक्तिमान भगवान् की सत्ता को स्वीकार करने की मति न होने के कारण कष्ट पाते हैं; तथा (४) वे लोग जो नास्तिक कहलाते हैं, और जान-बूझकर भगवान् के नाम से ही घृणा करते हैं, भले ही वे सदा संकट में क्यों न रहें।

श्री नारद जी ने व्यासदेव को समझाया कि वे सज्जन तथा दुर्जन आठों प्रकार के सारे लोगों का कल्याण करने के लिए भगवान् की महिमा का वर्णन करें। अतएव *श्रीमद्भागवत* किन्हीं विशेष श्रेणी या सम्प्रदाय के लोगों के निमित्त नहीं है। यह तो उस सत्यनिष्ठ व्यक्ति के लिए है, जो सचमुच अपने कल्याण तथा मन की शान्ति का इच्छुक है।

*इस प्रकार श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध के अन्तर्गत “नारद द्वारा व्यासदेव को श्रीमद्भागवत का उपदेश” नामक पंचम अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*